दिवाकर उपाध्याय

कृषि उत्पादकता

समस्याएँ और समाधान

कृषि - उत्पादकता
समस्याएं और समाधान

आमुख
श्री जगजीवनराम

लेखक
दिवाकर उपाध्याय

राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद
नई दिल्ली

प्रकाशक
राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद,
३८, गॉल्फ लिंक्स, नई दिल्ली-३

प्रथम संस्करण : १९६७
मूल्य : सात रुपए

मुद्रक
नवीन प्रेस,
दरियागंज, दिल्ली-६

आमुख

'कृषि-उत्पादकता : समस्याएँ और समाधान' पुस्तक के कुछ अंशों को मैंने देखा। मुझे पुस्तक उपयोगी लगी। लेखक ने कृषि के क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ाने पर जोर दिया है। कृषि में उत्पादकता का अर्थ होगा एक एकड़ या एक बीघे भूमि में अधिक उत्पादन कर लेना—उतने ही साधन से जितना उसमें लगता रहा है। अतः इसका अर्थ है साधनों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना, उनके अव्यवस्थित उपयोग या बर्बादी को रोकना। आज जब कृषि के पुनर्गठन का महत्त्वपूर्ण कार्य चल रहा है और साधनों की माँग और उपलब्धि में असंतुलन बना हुआ है, उस समय यह अत्यन्त आवश्यक है कि उपलब्ध साधनों के बेहतर उपयोग पर अधिक ध्यान दिया जाय और खेती के काम में होने वाली बर्बादी को कम किया जाय। ऐसा करने से ही कार्यक्रमों से अच्छा परिणाम प्राप्त किया जा सकेगा। लेखक ने ठीक ही कहा है, "कृषि-उत्पादकता बढ़ाने की समस्या यह है कि कैसे प्रति एकड़ भूमि, प्रति क्यूसैक पानी, प्रति टन रासायनिक खाद, प्रति मन बीज, प्रति घण्टे श्रम और इसी प्रकार जितने साधन हैं, उनका बेहतर से बेहतर इस्तेमाल हो और पैदावार बढ़े।" कृषि के क्षेत्र में कार्य करने वाले संगठनों, संस्थाओं, विशेषज्ञों, विभागों और सबसे अधिक किसान भाइयों को इस बात को समझना है और इसके लिए प्रयत्न करना है। उत्पादकता का मार्ग ही समृद्धि का मार्ग है, यह सनातन सत्य है। आज नहीं तो कल हमें अपने सभी-कार्यक्रमों को उत्पादकता के विचार एवं सिद्धान्तों के आधार पर संगठित करना होगा। कृषि हमारे देश का सबसे मुख्य धंधा है और यदि उसे ही उत्पादक नहीं बनाया गया, तो फिर देश की क्या दशा होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आज की समस्या गुजर-बसर की खेती को लाभदायक खेती में बदलने की है और यह तभी सम्भव है जब कृषि-उत्पादकता में वृद्धि हो।

मुझे बड़ी खुशी है कि इस पुस्तक को मूल रूप में हिन्दी में लिखा गया है। इसमें उत्पादकता के विचार और उसकी समस्याओं पर इस दृष्टि से विचार

किया गया है कि पुस्तक कृषि और अर्थशास्त्र के अध्ययन करने वालों के लिए ही नहीं, कृषि-कार्यक्रमों को निर्धारित और लागू करने वालों के लिए भी उपयोगी हो। आशा है, कृषि के क्षेत्र में कार्य करने वाले अधिक-से-अधिक व्यक्ति इस पुस्तक को पढ़ेंगे।

दिनांक : ३ अक्तूबर, १९६७

खाद्य तथा कृषि मन्त्री,
भारत सरकार।
नई दिल्ली

लेखक की ओर से

पुस्तक सुविज्ञ पाठकों के सामने है। अतः उसकी उपादेयता और सार्थकता का निर्णय तो वे ही करेंगे। विस्तार से कुछ न कहकर मुझे पुस्तक-रचना के सम्बन्ध में दो-एक स्पष्टीकरण देने हैं।

कहना न होगा कि कृषि की समस्याओं पर अबतक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और उन सबकी अपनी-अपनी उपयोगिता भी है। फिर यह पुस्तक क्यों? जैसाकि पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है, इसमें कृषि-समस्याओं का अध्ययन उत्पादकता के दृष्टिकोण से किया गया है और मेरे विचार से इसी एक विशेषता के कारण इस पुस्तक का अपना अलग व्यक्तित्व बन गया है।

कृषि-उत्पादकता का विषय अत्यन्त जटिल एवं व्यापक है। इसमें अर्थशास्त्रीय और तकनीकी पक्षों का इतना अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है कि एक के अभाव में दूसरा अधूरा-सा लगता है। हो सकता है, इस पुस्तक में भी कहीं-कहीं यह अधूरापन खले। लेकिन यह अधूरापन पुस्तक में न्यूनता का द्योतक नहीं है, बल्कि सही अर्थों में यह इस बात का दिशा-निर्देश है कि उत्पादकता के प्रकाश में इस विषय पर और भी पुस्तकें लिखी जानी चाहिए, जो शेष पहलुओं को उजागर करें।

मैंने कृषि-उत्पादकता के समाजशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय पक्षों को ही अधिक विस्तार दिया है। यह नहीं कि तकनीकी पक्ष सर्वथा अछूता रह गया हो, स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार उसका भी हवाला देने का प्रयास किया है, परन्तु क्योंकि यह क्षेत्र तकनीकी विशेषज्ञों का है, अतः इस पर विस्तार से प्रकाश डालने में वे ही समर्थ हो सकते हैं।

मेरा यह दावा भी नहीं है कि जिन क्षेत्रों को मैंने पुस्तक में लिखा है, वे अपने सर्वांग रूप में आ गए हों। कोशिश मेरी जरूर यह रही है कि कृषि-उत्पादकता की समस्याओं और उसके सम्भावित समाधान की एक तस्वीर सामने रख सकूँ। कह नहीं सकता, इसमें कहाँ तक सफल रहा हूँ। यदि यह पुस्तक कृषि-

उत्पादकता के विषय में विचार-प्रबोधन में भी सहायक हो सकी, तो मैं अपने प्रयास को कृतार्थ समझूंगा।

यह मेरे लिए कम सौभाग्य की बात नहीं है कि केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मंत्री श्री जगजीवनरामजी ने इस पुस्तक की भूमिका लिखकर मुझे प्रोत्साहन दिया है। इसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए मैं राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के प्रति विशेष रूप से अपना आभार प्रकट करता हूँ, क्योंकि परिषद द्वारा कृषि-उत्पादकता के क्षेत्र में प्रवेश करने के निश्चय के कारण ही मुझे इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा मिली।

राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के भूतपूर्व कार्यकारी निदेशक तथा अब प्लानिंग कमीशन के फूड डिवीज़न के चीफ श्री एन० के० भोजवानी, परिषद के रिसर्च डाइरेक्टर श्री जी० के० नायर और सूचना अधिकारी श्री हरकीरत सिंह का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे पुस्तक लिखने के समय कई उपयोगी सुझाव दिए। अपने सहयोगी श्री रमेश मिश्र को मैं विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहता हूँ, क्योंकि पुस्तक के उत्पादन में उन्होंने प्रारम्भ से अन्त तक मुझे सहयोग दिया है। साथ ही, मैं परिषद के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री सी० बी० मिश्र के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ। उन्होंने संदर्भ-सामग्री उपलब्ध कराने में मेरी विशेष सहायता की है। अपने स्टेनो, श्री बलदेवराज पाहवा को भी धन्यवाद देता हूँ, क्योंकि पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में उनका सहयोग बराबर मिला है।

दिवाकर उपाध्याय
राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद
नई दिल्ली-३

३० सितम्बर, १९६७

विषय-सूची

: १ :

कृषि-उत्पादकता : विचार एवं महत्व

काफी समय से देश गम्भीर अन्न-संकट से गुज़र रहा है। देश में जो कुछ पैदा होता है वह हमारी ज़रूरत के लिए पूरा नहीं होता और अरबों रुपये का अनाज दूसरे देशों से मंगाना पड़ता है। खाद्यान्न के अलावा कच्चे माल की भी भारी कमी है। यह आश्चर्य और दुःख की बात है कि तीन पंचवर्षीय योजनाओं के बाद भी एक कृषि-प्रधान देश को बाहर से अनाज मंगाना पड़ता है, जबकि उस देश में लगभग ३९ करोड़ भूमि में फसल बोई जाती है और ७ करोड़ ५० लाख भूमि में सिंचाई भी होती है। अनाज का आयात करते रहना न केवल आर्थिक दृष्टि से, राष्ट्रीय सुरक्षा और सम्मान की दृष्टि से भी खतरनाक है।

आर्थिक और राजनैतिक पहलू के अलावा इसका मानवीय पहलू भी है। अनाज की कमी के कारण देश के कई भागों में जनता को बहुत बुरे दिन काटने पड़ रहे हैं। पौष्टिक भोजन मिलना तो दूर रहा, बहुतों के लिए दो वक्त भरपेट भोजन मिलना भी कठिन है। कच्चे माल की कमी से कई फैक्टरियों के बन्द होने की नौबत आ गई है, कुछ अपनी पूरी क्षमता के अनुसार काम नहीं कर रही हैं। आखिर ऐसी स्थिति क्यों है? पिछली तीन पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान कृषि-विकास के अनेक कार्यक्रम चलाए गए और पैदावार बढ़ी भी, लेकिन फिर भी हमें दूसरे देशों का मुंह ताकना पड़ रहा है। इसके बहुत-से कारण हैं, जिनमें कुछ जो महत्वपूर्ण हैं उनकी चर्चा आगे किसी-न-किसी रूप में की गई है। यद्यपि जन-संख्या की तेजी से वृद्धि और प्राकृतिक प्रकोप भी इस कमी के कारण हैं, लेकिन हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि योजनाओं में प्राथमिकता के निश्चित करने तथा उसके लागू करने में शिथिलता के कारण ही आज स्थिति इतनी गम्भीर है और इस क्षेत्र में सफलता नहीं मिल सकी है। योजनाओं द्वारा कई क्षेत्रों में हमने सफलता पाई है, लेकिन इन सब सफलताओं की सार्थकता तभी है जब खाद्यान्न

में भी हमारा देश आत्म-निर्भर हो, क्योंकि भोजन मनुष्य की बुनियादी और पहली आवश्यकता है।

आखिर अनाज या कच्चे माल की कमी क्यों हैं ? इसका सिर्फ एक उत्तर है और वह यह कि हमारे देश की कृषि-उत्पादकता बहुत ही कम है। पिछली तीन योजनाओं के दौरान कृषि-उत्पादन में कुल वृद्धि तो लगभग ४० प्रतिशत हुई (जिसका अधिकांश नई भूमि को काश्त में लाने से प्राप्त हुआ) लेकिन कृषि-उत्पादकता में सिर्फ २० प्रतिशत ही वृद्धि हुई। कृषि-उत्पादकता-सम्बन्धी यह बढ़ोतरी प्रति एकड़ पैदावार के आधार पर निश्चित की गई है।

लेकिन यहां आप पूछ सकते हैं कि उत्पादन और उत्पादकता में अन्तर क्या है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है और इस पुस्तक में हर समस्या पर विचार करते समय हमारे सामने उत्पादकता बढ़ाने का विचार ही मुख्य है। अतः उत्पादकता बढ़ाने से हमारा क्या अभिप्राय है, इसपर हमें सबसे पहले विचार कर लेना चाहिए। अक्सर उत्पादन और उत्पादकता का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है, लेकिन इन दोनों में बहुत अन्तर है। उत्पादन के विभिन्न साधनों को बढ़ाने से उत्पादन कमो-बेश बढ़ता ही है, लेकिन उत्पादन के बढ़ने के साथ उत्पादकता भी बढ़ेगी, ऐसी बात नहीं। उत्पादकता तो तभी बढ़ सकती है जब साधनों का भरपूर इस्तेमाल हो, उत्पादन-लागत कम हो और अच्छे किस्म का सामान बने।

मान लीजिए दो किसान 'क' और 'ख' एक ही तरह और एक ही आकार की भूमि, बराबर साधनों और एक ही तरह की जलवायु में खेती करते हैं, परन्तु 'क' १३० मन पैदा करता है और 'ख' १०० मन। इसमें 'क' की उत्पादकता 'ख' के मुकाबले ज्यादा है, क्योंकि वह अपने साधनों का अधिक कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करके अधिक पैदावार ले रहा है। वस्तुतः उत्पादकता के विचार में दो व्यक्तियों या दो परिस्थितियों में मुकाबला करके यह पता लगाया जाता है कि कैसे साधनों का कुशलतापूर्वक उपयोग करके अधिक-से-अधिक और अच्छे-से-अच्छे नतीजे हासिल किये जा सकते हैं।

ऊपर दिये गए उदाहरण से जो खास बात स्पष्ट होती है वह यह है कि साधनों के कुशल उपयोग और बेहतर नतीजे हासिल करने के लिए लागत और उत्पादन दोनों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उत्पादन बढ़ाने की बात जब होती है तो इस पहलू पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। लेकिन उत्पादकता में इन दोनों को बराबर ध्यान में रखा जाता है।

उत्पादित सामान या सेवाओं तथा उत्पादन में लगे साधनों के अनुपात से ही उत्पादकता का बोध होता है। सुविधा के लिए सामान या सेवाओं तथा

साधनों की कीमत रुपयों में आँकी जा सकती है और फिर उनके अनुपात का पता लगाया जा सकता है।

कृषि-उत्पादकता का अभिप्राय

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने से हमारा अभिप्राय यह है कि साधनों के रूप में जो कुछ खर्च किया जाता है या लगाया जाता है और इसके परिणाम-स्वरूप जो कुछ प्राप्त होता है उन दोनों का अनुपात बढ़ाया जाय। इसे दो रूपों में प्राप्त किया जा सकता है:

१. जो कुछ अब जितने साधन से पैदा किया जाता है उतना ही कम साधनों से पैदा किया जाय।

या

२. जितने साधन से इस समय जो कुछ पैदा किया जाता है उतने ही साधन से पहले से अधिक पैदा किया जाय।

इस प्रकार उत्पादकता के विषय में विचार करते समय जो बात बार-बार सामने आती है वह है साधनों का बेहतर इस्तेमाल और उससे अधिक और अच्छे नतीजे हासिल करना। कृषि-उत्पादकता बढ़ाने की समस्या ही यह है कि कैसे प्रति एकड़ भूमि, प्रति क्यूसेक पानी, प्रति टन रासायनिक खाद, प्रति मन बीज, प्रति घण्टे श्रम और इसी प्रकार जितने साधन हैं उनका बेहतर-से-बेहतर इस्तेमाल हो और पैदावार बढ़े।

साधनों के बेहतर और भरपूर इस्तेमाल के लिए सबसे जरूरी है कि साधनों की बर्बादी रोकी जाय। साधनों की बर्बादी रोकने का उत्पादकता में इतना महत्व है कि कुछ विशेषज्ञ उत्पादकता से बर्बादी रोकने या बर्बादी कम करने का ही अर्थ लेते हैं।

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने का अर्थ बहुत-से विशेषज्ञ प्रति एकड़ भूमि की पैदावार बढ़ाने से लेते हैं। काफी हद तक यह बात सही है, क्योंकि इससे जितनी भूमि जोत में है उसके चप्पे-चप्पे के इस्तेमाल का बोध होता है। साथ ही, प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने से उत्पादकता बढ़ाने का बोध इसलिए भी होता है कि खेती के विभिन्न साधनों जैसे खाद, बीज, पानी, कीटनाशकों, कृषि यन्त्रों आदि का प्रयोग भूमि पर ही होता है और यदि भूमि की उपज बढ़ती है तो दूसरे साधनों के कुशल इस्तेमाल का संकेत भी मिलता है। अतः कृषि-उत्पादकता बढ़ रही है या घट रही है, इसका पता प्रति एकड़ उपज बढ़ने या घटने से लग सकता है।

उन देशों में, जहां कृषि का विकास अभी ठीक ढंग से नहीं हुआ है या जो

अविकसित हैं, वहाँ कृषि-उत्पादकता बढ़ाने की समस्या सचमुच प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने की ही है और कृषि-उत्पादकता बढ़ने की कसौटी फिलहाल प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ना ही हो सकता है, क्योंकि कृषि के जितने कार्य हैं उन सबको पूर्ण वैज्ञानिक आधार पर संगठित करने में काफी समय लगेगा। लेकिन यह बात भी हमें स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ने से कृषि के हर क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ रही हो, ऐसा मानना भूल है। इसीलिए अगर कोई परिभाषा की दृष्टि से प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ने को कृषि-उत्पादकता बढ़ना कहे तो हम इसे आंशिक रूप से ही ठीक कहेंगे, क्योंकि इस परिभाषा की निम्न सीमाएँ हैं :—

१. प्रति एकड़ उपज बढ़ने से प्रति एकड़ लागत भी कम हो रही है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ने के साथ लागत बढ़ भी सकती है।
२. प्रति एकड़ उपज भूमि की उपज को स्पष्ट करता है, जबकि कृषि-सम्बन्धी अनेक क्रियाएँ भूमि से पैदावार लेने के अलावा अन्य कई कार्यों से भी सम्बन्धित हैं जैसे अनाज को अच्छी तरह भण्डारों में रखना, उसको ठीक-ठीक दूसरी जगहों पर भेजना, उसके बेचने की व्यवस्था करना, उसकी सफाई की व्यवस्था आदि। भूमि की पैदावार अच्छी हो तो भी उसके ठीक ढंग से रखने, वितरण आदि के प्रश्न भी महत्वपूर्ण हैं और ये भी कृषि-उत्पादकता बढ़ाने से सम्बन्धित हैं।
३. कृषि ऐसा धन्धा है जिसमें भूमि से अनाज पैदा करने के अलावा और भी बहुत-से काम सम्मिलित हैं। कृषि-उत्पादकता की चर्चा करते समय हम खेती को व्यापक अर्थ में लेते हैं। कृषि के अन्तर्गत सिर्फ़ अनाज, साग-सब्जी या फलों का उत्पादन ही नहीं शामिल है, पशु-पालन, मुर्गीपालन, कृषि पर निर्भर उद्योग आदि भी इसके क्षेत्र में शामिल हैं जिनकी उत्पादकता मापने के लिए भूमि की उत्पादकता का पता लगा लेना ही पर्याप्त नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रति एकड़ भूमि की उत्पादकता को ही कृषि की उत्पादकता का आधार नहीं बनाया जा सकता। वस्तुतः परिभाषा की दृष्टि से कृषि-उत्पादकता बढ़ाने का मतलब साधनों (in-put) और उत्पाद (out-put) के अनुपात को बढ़ाने से ही है। यह दूसरी बात है कि प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाना इस समय कृषि-विकास की मुख्य समस्या है।

: २ :

कृषि-उत्पादकता क्यों ?

कृषि-उत्पादन और कृषि-उत्पादकता के अन्तर को समझने के बाद यह जानना आवश्यक है कि कृषि-उत्पादकता बढ़ाने पर क्यों अधिक जोर दिया जा रहा है। हम सभी जानते हैं कि देश में अनाज और खेती से मिलनेवाले कच्चे माल की कमी है। इस समस्या को हमें जिस तरह भी हो, उत्पादन बढ़ाकर या उत्पादकता बढ़ाकर हल करना है। यह एक ऐसी समस्या है जिसके साथ हमारी जिन्दगी और मौत का प्रश्न जुड़ा हुआ है। साथ ही, यह समस्या जितनी आबादी इस समय है, सिर्फ उतने लोगों के लिए ही अनाज पैदा कर देने-भर की नहीं है। जो आबादी हर साल बढ़ती जा रही है, उसके लिए भी पैदावार बढ़ाने की है। आबादी के बढ़ने के साथ अन्य वस्तुओं की मांग भी बढ़ेगी और उद्योग-धन्धे भी बढ़ेंगे जिससे आगे चलकर कच्चे माल की मांग बढ़ेगी। बराबर हम विदेशों पर निर्भर नहीं रह सकते और शीघ्र ही हमें आत्मनिर्भरता के स्टेज पर पहुँचना होगा। यह स्थिति बिना उत्पादकता बढ़ाए सम्भव नहीं।

साथ ही, जब हम आत्मनिर्भर होने की बात करते हैं, तो इससे दो मतलब निकलते हैं। एक तो यह कि जो आबादी है या जो उद्योग हैं, उनकी जरूरत को पूरा करने के लिए देश आत्मनिर्भर हो। इसका अर्थ यह भी है कि जो कुछ इस समय उपलब्ध है उससे काम चला लें। इन दोनों ही दृष्टियों से उत्पादकता बढ़ाना आवश्यक है। जो कुछ उपलब्ध है, उसके बेहतर इस्तेमाल, उसकी बरबादी को कम करने, उसके उचित वितरण आदि द्वारा काफी सुधार हो सकता है और ये बातें उत्पादकता बढ़ाने से ताल्लुक रखती हैं।

साधनों की कमी

यद्यपि प्राकृतिक साधनों की हमारे देश में कमी नहीं है, लेकिन मनुष्य द्वारा जो साधन कृषि-विकास के लिए जुटाए जाते हैं उनकी बराबर कमी रहती

है। पूंजी, मशीन, उर्वरक, सिंचाई के साधन, अच्छे बीज इन सभी चीजों की कमी है। लेकिन इस कमी को जहाँ इनकी मात्रा को बढ़ाने से दूर किया जा सकता है वहीं इनके अच्छे इस्तेमाल और उचित व्यवस्था द्वारा भी दूर किया जा सकता है, जो उत्पादकता से ही सम्भव है।

औद्योगिक उत्पादकता को बढ़ाने की दृष्टि से भी कृषि-उत्पादकता बढ़ाना आवश्यक है। औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में जो लागत-सम्बन्धी विश्लेषण किये गए हैं, उनसे प्रकट होता है कि औद्योगिक वस्तुओं का ६० प्रतिशत उत्पादन-लागत कच्चे माल पर निर्भर करती है। इसके अलावा कुल विदेशी मुद्रा का ४५ प्रतिशत कृषि के क्षेत्र से ही प्राप्त होता है। कृषि-उत्पादकता बढ़ने से कच्चा माल सस्ता मिलेगा और उद्योगों में चीजें सस्ती और अच्छी बनेंगी। जैसे अच्छे और ज्यादा कपास से अच्छा और ज्यादा कपड़ा बनेगा और विदेशों से कपास मंगाना बन्द हो जाएगा। साथ ही, उत्पादकता बढ़ने से जब उत्पादन-लागत कम हागी तो विदेशों में कृषि-पैदावार की माँग बढ़ेगी और उससे अधिक विदेशी मुद्रा मिल सकेगी। वस्तुतः किसी देश की आर्थिक प्रगति कृषि और उद्योग दोनों की प्रगति पर निर्भर करती है। यह कैसे सम्भव है कि हमारी तरक्की उस हालत में भी होती रहे जबकि औद्योगिक उत्पादन तो ७ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़े और कृषि-उत्पादन सिर्फ ढाई या तीन प्रतिशत की दर से।

निर्वाह खेती बनाम व्यावसायिक खेती

खेती में भूमि सबसे मुख्य साधन है। भूमि प्रकृति की देन है। उसे घटाया, बढ़ाया नहीं जा सकता। हमारे देश में जितनी भूमि खेती में लाई जा सकती थी, वह करीब-करीब आ चुकी है। गत वर्षों में जो पैदावार बढ़ी है, उसका अधिकांश अतिरिक्त जमीन को जोत में लाने से बढ़ा है। अब जोत के लिए अधिक जमीन उपलब्ध नहीं है। अतः यह जरूरी है कि जितनी जमीन है, उस पर ही अधिक पैदा किया जाय और इसके लिए हमें कृषि के क्षेत्र में उत्पादकता की विधियों को अपनाना होगा।

वस्तुतः कृषि के क्षेत्र में विकास के लिए हमें निर्वाह खेती के स्तर से ऊपर उठना है। भारतीय कृषि की दुर्दशा का एक प्रमुख कारण यह है कि हमारे यहाँ खेती एक लाभदायक व्यवसाय न होकर अधिकांश लोगों के लिए गुजर-बसर करने का साधन है जिसे अंग्रेजी में Subsistence farming (निर्वाह खेती) कहते हैं। अधिकांश पिछड़े हुए देशों की यही समस्या है। अगर हम चाहते हैं कि हमारी खेती सिर्फ गुजर-बसर करने की खेती न रहकर लाभदायक धन्धा बने, इसमें लगे लोगों के

रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो और इससे अधिक आय हो ,तो फिर यह बहुत जरूरी है कि हम उत्पादकता के तरीकों को अपनाकर खेती करें। परम्परागत तरीकों को छोड़कर व्यावसायिक ढंग से खेती करने के लिए यह जरूरी है कि हम अपने साधनों से ज्यादा पैदा करने पर जोर दें।

यहाँ निर्वाह खेती और व्यावसायिक खेती के अन्तर पर संक्षेप में विचार किया जा सकता है। यह अन्तर इस प्रकार है :—

	निर्वाह खेती	व्यावसायिक खेती
१.	इस तरह की कृषि में परम्परागत ढंग से चले आ रहे तरीकों से खेती की जाती है।	वैज्ञानिक तरीके अपनाए जाते हैं।
२.	साधनों का पूरा इस्तेमाल नहीं हो पाता।	साधनों के बेहतर इस्तेमाल पर जोर दिया जाता है।
३.	इस तरीके की खेती में जो कुछ पैदा होता है वह किसान अपने ही उपयोग में ले आते हैं या उसका बचा हुआ बीज आदि में लगाते हैं।	इस तरह की खेती में इतनी पैदावार की जाती है कि उसे लाभदायक कीमत पर बेचा जाता है और उससे आमदनी की जाती है अर्थात् खेती का उद्देश्य पूर्णरूप से व्यावसायिक रहता है।
४.	निर्वाह खेती में खेती के अधिकांश साधन किसान अपने पास से अपने आंतरिक साधनों से ही लगाता है। जैसे पैदावार से बचाकर बीज निकालता है, अपने पशुओं के गोबर से खाद लेता है, अपनी पैदावार में से ही मजदूरी भी देता है।	व्यावसायिक खेती में अधिकांश साधनों की व्यवस्था बाहर से की जाती है, जैसे बैंक से पूंजी ली जाती है, इंजीनियरिंग फार्मों से खेती के औजार, बीज-भण्डारों से बीज आदि लिये जाते हैं।
५.	गुजर-बसर की खेती में पैदावार कम होती है और लागत अपेक्षाकृत ज्यादा होती है।	प्रति इकाई लागत घटाई जाती है, ताकि लाभ ज्यादा हो।

गुजर-बसर की खेती और व्यावसायिक खेती के अन्तर को स्पष्ट करने का अभिप्राय यह है कि हम यह समझें कि कृषि-उत्पादकता की क्या समस्याएँ हैं। यदि हम चाहते हैं कि कृषि में लगे ७० प्रतिशत लोगों के जीवन-स्तर में सुधार हो तो

यह आवश्यक है कि खेती को निर्वाह-मात्र का सहारा न रखकर उसे लाभप्रद धंधे के रूप में विकसित करें। यह तभी सम्भव है जब कृषि को नये तरीके से और वैज्ञानिक आधार पर संगठित किया जाय।

खेती से होने वाली तरह-तरह की बरबादी को रोकने की दृष्टि से भी कृषि-उत्पादकता को महत्व देना है। बीज बोने से लेकर पैदावार होने, उसे ढोने, भण्डारों में रखने, उपभोग करने तक, हर काम में अगर बारीकी से देखें तो तरह-तरह की बरबादी होती है। अनुमान है कि यह बरबादी कुल पैदावार की १० से १५ प्रतिशत से भी अधिक है। अगर इस बरबादी को ही हम रोक दें तो उत्पादकता काफी बढ़ जाए। इस विषय में आगे चलकर और विस्तार से विचार किया गया है।

कृषि के क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ाने की आवश्यकता इसलिए भी है कि हमारी राष्ट्रीय आय का लगभग ५० प्रतिशत खेती से ही प्राप्त होता है और इस पर आबादी का लगभग ७० प्रतिशत भाग अपनी जीविका के लिए निर्भर करता है। यदि हम चाहते हैं कि राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़े, उसमें लगे लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊपर उठे, यातायात, शिक्षा, चिकित्सा आदि के रूप में लोगों को अधिक सुविधाएँ मिलें, तो खेती की उत्पादकता बढ़ाना नितान्त आवश्यक है।

लेकिन यहाँ उत्पादकता बढ़ाने पर जोर देने का अर्थ यह नहीं कि उत्पादन बढ़ाने के जो कार्यक्रम इस समय चलाए जा रहे हैं, वे बेकार हैं। जहाँ कृषि-उत्पादन बहुत कम हो, अनाज दूसरे देशों से मँगाना पड़ता हो, बाहर से अनाज मिलने में कठिनाई हो रही हो, उस देश में उत्पादन बढ़ाने के कार्यक्रम भी बहुत महत्वपूर्ण हैं लेकिन इतना अवश्य है कि अगर ये कार्यक्रम लागत और परिणाम के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए अधिक-से-अधिक कुशलतापूर्वक लागू नहीं किये जाते तो आगे चलकर वे बोझिल बन जाते हैं। यही नहीं, कार्यक्रमों के लागू करने की शिथिलता और लागत के प्रति लापरवाही, इन दो खास कारणों से ही हमारे कृषि-कार्यक्रम असफल हुए हैं। अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारे वर्तमान उत्पादन बढ़ाने के कार्यक्रम सफल हों तो हमें उन्हें उत्पादकता-उन्मुख बनाना होगा।

अन्य देशों के अनुभव

कृषि के क्षेत्र में जिन देशों ने काफी प्रगति की है उनके कार्यक्रमों तथा सफलताओं पर गौर करने पर हम देखेंगे कि उनकी प्रगति का रहस्य उत्पादकता बढ़ाने पर जोर देना ही रहा है। दूसरे देशों के मुकाबले भारत की कृषि-उत्पा-

दकता एक-चौथाई है । कुछ फसलों की उत्पादकता की निम्न तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दूसरे देशों के मुकाबले भारत में उत्पादकता बहुत कम है—

फसलों की उत्पादकता का तुलनात्मक विवरण

देश	प्रति हेक्टर उत्पादन (१०० कि० ग्राम में)
	गेहूँ
पश्चिमी जर्मनी	३४.८
रूस	१०.५
ब्रिटेन	४३.५
अमरीका	१६.९
भारत	८.९
संयुक्त अरब गणराज्य	२६.१
जापान	२५.४
इटली	२०.९
संसार का औसत	१२.६
	चावल
इटली	५४.९
रूस	२१.९
अमरीका	४१.८
भारत	१३.८
जापान	५२.६
संयुक्त अरब गणराज्य	५८.४
आस्ट्रेलिया	६०.३
बर्मा	१५.९
संसार का औसत	१९.९

कपास

रूस	६.२
अमरीका	५.१
भारत	१.२
संयुक्त अरब गणराज्य	६.६
सूडान	३.५
टर्की	३.७
पीरू	६.१
मैक्सिको	६.४
संसार का औसत	३.३

जापान, अमरीका, आस्ट्रेलिया, इसराइल आदि देशों में कृषि-प्रगति के कार्यक्रमों का उद्देश्य उत्पादकता बढ़ाना रहा है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार किसी खास तरीके या पहलू पर जोर दिया है। जापान ने छोटे-छोटे खेतों में और सिंचाई की सुविधाओं के पर्याप्त मात्रा में न रहते हुए भी उर्वरकों, उत्तम बीजों, मशीनों और वैज्ञानिक कृषि-पद्धति को अपनाकर द्वितीय महायुद्ध के बाद से कृषि-उत्पादकता को बड़ी तेजी से बढ़ाया है। अमरीका ने बड़े उद्योगों के आर्थिक लाभों को कृषि में भी प्राप्त करने और खेती को पूर्णरूप से औद्योगिक तरीकों से संगठित करने पर जोर दिया। इस समय भी ताइवान, सूडान, मैक्सिको कृषि-उत्पादकता बढ़ाने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। दूसरे देशों के ये अनुभव हमें कृषि-उत्पादकता बढ़ाने का सबक देते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि विदेशों का आँख मूँदकर अनुकरण किया जाय। अपनी परिस्थितियों के अनुसार ही हमें उत्पादकता के विचार को कृषि के क्षेत्र में अपनाना चाहिए।

: ३ :

कृषि-उत्पादकता के साधन

पिछले अध्याय में हमने कृषि-उत्पादकता बढ़ाने की अनिवार्यता के विषय में विचार किया है। अब हम कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के साधनों पर विचार करेंगे। प्रारम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि कृषि-उत्पादन बढ़ाने और कृषि-उत्पादकता के साधनों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि भूमि, बीज, पानी, उर्वरक आदि ही उत्पादन या उत्पादकता बढ़ाने के लिए जरूरी हैं। यदि कोई अन्तर है तो वह इनके इस्तेमाल, व्यवस्था, प्राथमिकता के निश्चित करने आदि के तरीकों में है। उत्पादकता की तकनीकों तथा कुशल प्रबन्ध-व्यवस्था की सहायता से इन्हीं साधनों का इस तरह प्रयोग किया जा सकता है कि इनसे अधिक-से-अधिक उत्पादन होगा और लागत भी कम होगी। इस सम्बन्ध में हम आगे विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ हम इन साधनों के विषय में ही चर्चा करना चाहते हैं और यह बताना चाहते हैं कि कैसे ये उत्पादकता के बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं।

भूमि

भूमि उत्पादकता का सबसे महत्वपूर्ण और प्रारम्भिक साधन है। इस विषय में विचार करते समय हमारे सामने दो बातें आती हैं, १. भूमि की उत्पादन-क्षमता २. भूमि-सुधार।

भूमि की उत्पादन-क्षमता—अनुभव से पता चला है कि उन्नत बीज, उत्तम खाद, सिंचाई की पर्याप्त सुविधाओं आदि के रहते हुए भी कुछ क्षेत्रों में उत्पादकता बढ़ाने की गुंजाइश नहीं रहती। इसका कारण यह होता है कि इन क्षेत्रों में भूमि की उत्पादन-क्षमता बहुत कम होती है। भूमि प्राकृतिक साधन है, अतः उसकी जैविक क्षमता (biotic potentiality) और वायुमंडलीय निरोधकता (Environmental resistence) भी प्रकृति से निश्चित हैं। यह सही है कि

मनुष्य कृत्रिम तरीकों से इसमें सुधार कर सकता है, लेकिन यदि भूमि की उत्पादन-क्षमता प्रकृति की ओर से बहुत कम है, तो उस पर खर्च करते जाना बेकार होगा। कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए ज़रूरी है कि भूमि की उत्पादन-क्षमता का ठीक-ठीक पता लगे। कृषक अनुभव के आधार पर यह जानते हैं कि किस भूमि की उत्पादन-क्षमता कितनी है, लेकिन वैज्ञानिक तरीकों से इसका पता लगाना अत्यन्त आवश्यक है। वैज्ञानिक तरीके से यह भी पता चल सकता है कि कौन-सी भूमि किस फसल के लिए उपयुक्त है।

भूमि की उत्पादन-क्षमता को ही ध्यान में रखते हुए योजना आयोग के संयुक्त सचिव तथा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० एस० आर० सेन ने कहा है कि कृषि-समस्याओं को हल करने के लिए भौगोलिक परिस्थितियों के बारे में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए और इसके आधार पर ही उत्पादन-कार्यक्रमों तथा लक्ष्यों को निश्चित करना चाहिए। श्री सेन ने यह भी कहा है कि जनसंख्या के दबाव के कारण हर तरह की भूमि पर खेती होने लगी है, ऐसी भूमि पर भी जो नाम मात्र की पैदावार देती है। अक्सर यह देखा गया है कि इस तरह की भूमि की ही फसलें सूखा या ज्यादा पानी बरसने से पहले नष्ट हो जाती हैं। क्यों न ऐसी भूमि का उपयोग किसी दूसरे रूप में किया जाय जिससे इस पर साधनों के रूप में जो व्यय हो उसकी बर्बादी रोकी जा सके। लेकिन इसके साथ ही यह प्रश्न भी है कि इस तरह की भूमि किसी एक कृषक के पास तो है नहीं। यह असंख्य किसानों के पास है, अतः इसके लिए नियोजित ढंग से काम करना होगा।

प्रत्येक राज्य या जिले में उर्वरा शक्ति और वर्षा तथा बाढ़ आदि से प्रभावित होने के आधार पर भूमि का वर्गीकरण कर दिया जाय। इस वर्गीकरण के आधार पर भूमि की निम्नलिखित तीन श्रेणियाँ हो जाएँगी—

(क) ऐसी भूमि जहाँ वर्षा या कृत्रिम साधनों से भूमि की सिंचाई की पूरी व्यवस्था है और जहाँ खेती मौसम पर निर्भर नहीं करती। ऐसी भूमि में कृषि के कार्यक्रमों को तत्काल उत्पादकता-उन्मुख बनाया जा सकता है। यहाँ दो-दो तीन-तीन फसलें पैदा की जानी चाहिए। पैकेज प्रोग्राम में सरकार ने इस बात को ध्यान में रखा है।

(ख) दूसरे प्रकार की वह भूमि होगी जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ पर्याप्त नहीं हैं, लेकिन उसके विकास की सम्भावनाएँ हैं। इस क्षेत्र में खेती मानसून के अनुकूल या विपरीत होने पर बहुत-कुछ निर्भर करती है। ऐसे क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार तो किया ही जाय, साथ ही अनुसंधान द्वारा ऐसे बीजों का पता लगाया जाए जो सूखा पड़ने पर भी पैदावार दें। ऐसी भूमि में अधिक-से-

अधिक पैदावार देने वाले बीज की जगह कुछ कम पैदावार देने वाले बीज के बोने पर भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती है, यदि उस कम पैदावार देने वाले बीज में मौसम के विपरीत होने पर भी पैदावार देने की क्षमता है।

(ग) तीसरी श्रेणी में ऐसी भूमि आएगी जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ नहीं हैं और वर्षा भी कम या नाम मात्र को होती है। इस भूमि में ऐसी खेती की जानी चाहिए जिसमें पानी की आवश्यकता न हो या कम हो। यहाँ मिश्रित खेती, मेड़बन्दी, आदि कार्यक्रमों पर जोर दिया जाना चाहिए। पशुपालन के विकास के लिए घास या चारे आदि भी पैदा किए जा सकते हैं।

अनुमान है कि भारत में मोटे तौर पर 'क' प्रकार की भूमि से ३७ प्रतिशत, 'ख' तरह की भूमि से ४२ प्रतिशत और 'ग' भूमि से २१ प्रतिशत पैदावार प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में वर्गीकरण वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए। कृषक अपने अनुभव के आधार पर भूमि की किस्मों के बारे में कुछ-न-कुछ जानकारी रखते हैं, लेकिन कारगर नियोजन की दृष्टि से भूमि की उत्पादन-क्षमता को ध्यान में रखते हुए कार्यक्रमों को निश्चित करना उत्पादकता बढ़ाने की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है।

ऐसी भूमि, जिस पर पैदावार नाममात्र की होती है और जिनमें सूखा या अतिवृष्टि के कारण फसल जल्दी नष्ट हो जाती है, वह सीमान्त भूमि कही जा सकती है। अनाज की कमी के कारण ऐसी भूमि में फिलहाल खेती के काम को रोकने का सुझाव व्यावहारिक तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन आगे चलकर इसके बेहतर उपयोग के लिए कोई योजना अवश्य बनानी होगी, क्योंकि ऐसी भूमि में लागत ज्यादा होने के कारण पैदावार की कीमत भी अधिक रहती है।

भूमि-सुधार

भूमि की उत्पादन-क्षमता के बाद भूमि-सुधार पर भी विचार करना आवश्यक है। भूमि-सुधार दो तरह से किए जाते हैं। कुछ सुधार कानूनी तौर पर किए जाते हैं और कुछ सुधार ऐसे हैं जो कृषि की ऐसी क्रियाओं से सम्बन्धित हैं जो भूमि की उपजाऊ शक्ति को कायम रखने या बढ़ाने के लिए की जाती हैं। उद्देश्य दोनों तरह के सुधारों का एक ही है कि कैसे भूमि को उपजाऊ हालत में रखकर उससे अधिक-से-अधिक पैदा किया जाए। पहले हम भूमि-सम्बन्धी कानूनी सुधारों पर विचार करेंगे।

कानूनी तौर पर भूमि-सुधार का उद्देश्य सामाजिक न्याय देने के अलावा काश्तकारों के लिए ऐसे नियमों को बनाना और लागू करना है कि भूमि की उप-

जाऊ शक्ति बढ़ाते रहने में किसानों की दिलचस्पी बनी रहे। किसान को अपनी भूमि से बहुत लगाव होता है, वह उसे धरती माता कहता है। अतः भूमि-सम्बन्धी कानून ऐसे होने चाहिए कि किसान का भूमि के प्रति यह लगाव कायम रहे। वह भूमि की उर्वरा-शक्ति बनाए रखने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहे और भूमि की उपेक्षा न करे। भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में भूमि-सुधार के निम्न उद्देश्य हैं :

१. भूमि के जोतनेवाले को भूमि का मालिक बनाना, २. मध्यवर्तियों को समाप्त करना, ३. प्रति परिवार जोत की सीमा निश्चित करना, ४. भूमि की चकबन्दी करना, ५. बेदखली रोकना।

स्वतन्त्रता मिलने के बाद से ही भारत सरकार ने इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भूमि-सम्बन्धी कानूनी सुधार करने की घोषणा की और राज्य सरकारों से इस दिशा में कदम उठाने को कहा गया। राज्यों में आगे-पीछे कानूनी सुधार किए भी गए, लेकिन इनका पूरा-पूरा लाभ किसानों को नहीं हुआ। इस बात को चौथी पंचवर्षीय योजना के मसविदे में भी स्वीकार किया गया है। भूमि-सुधार के लिए कानून बनाना ही पर्याप्त नहीं। उसे लागू करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। खेती के सभी साधनों को मुहैय्या कर देने पर भी अगर किसान को भूमि के स्वामित्व की निश्चिन्तता नहीं है, और अगर उसके खेत इतने बड़े नहीं हैं कि उन पर लाभदायक खेती की जा सके, तो सभी साधन बेकार होंगे और उनका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि भूमि-सुधार द्वारा किसानों को उनकी जोत का मालिक बनाया जाय और बेदखली रोकी जाय।

लेकिन भूमि-सुधार का अर्थ विधान सभाओं में कानून बना देने मात्र से नहीं है। बहुत-से लोग इसे इसी सीमित अर्थ में लेते हैं। इन कानूनी सुधारों के बाद अगर उन्हें लागू करने में कोई कमी रह जाती है तो उसे अदालती मुकदमों द्वारा ठीक करने की गुंजाइश कर दी जाती है। इससे छोटे किसानों को ही सबसे अधिक नुकसान होता है और निहित स्वार्थ वाले इससे लाभ उठाते हैं। वस्तुतः भूमि-सम्बन्धी कानूनी सुधारों का उद्देश्य सिर्फ सामाजिक न्याय दिलाना नहीं, बल्कि लोगों की आर्थिक स्थिति को सुधारना भी है। भूमि-सुधार के लिए बनाए गए कानूनों की उपयोगिता को जाँचने के लिए हमें निम्न तीन प्रश्नों का उत्तर देना होगा।

१. भूमि-सुधार के नियमों द्वारा किसान की अपनी भूमि के स्वामित्व के प्रति पूर्ण निश्चिन्तता या सुरक्षा मिली है या नहीं ?

२. इन नियमों के बनाने से खेती के कार्यों में कृषक अधिक पूंजी लगाने,

खेती की नई विधियों को अपनाने, उसे लाभदायक धंधा बनाने के लिए प्रेरित हुआ है या नहीं।

३. भूमि-सुधार के नियमों को बनाने के बाद उन्हें पूरी तरह से लागू किया गया है या नहीं और साथ ही कृषकों की आर्थिक क्षमता बढ़ाने के उद्देश्य से उन्हें अन्य आवश्यक सहायता दी गई है या नहीं।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाएँगे कि यद्यपि कई राज्यों ने भूमि-सुधार के नियम बनाए हैं, लेकिन उससे कृषि-उत्पादकता बढ़ाने में कोई खास मदद नहीं मिली है। इस तथ्य को योजना आयोग ने भी स्वीकार किया है। १९६३ में भारत सरकार के तत्कालीन गृहमंत्री श्री गुलजारीलाल नन्दा की अध्यक्षता में गठित समिति ने भी इसे स्वीकार किया है। इस उच्च स्तरीय समिति ने राज्यों द्वारा बनाए गए भूमि-सुधार कानूनों के प्रभाव का अध्ययन किया था और इसमें जो कमजोरियाँ रही हैं, उन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। समिति ने कहा है कि इन कमजोरियों के कारण चौथी योजना के दौरान कृषि-उत्पादन के कार्यक्रमों में रुकावट पैदा होना स्वाभाविक है। चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रारूप के आठवें अध्याय में भी इन कमजोरियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। जिन क्षेत्रों में भूमि-सुधार कानून कारगर नहीं हुए हैं, वे निम्न हैं :

१. चकबन्दी—जिसमें लक्ष्य के अनुसार काम नहीं हो सका है।

२. बेदखली रोकने में सफलता नहीं मिली है।

३. भूमि को बँटाई (आधी पैदावार बाँटने के आधार पर) बोने के लिए दिया जाता है और पुनः कुछ समय बाद वापिस ले लिया जाता है, ताकि उस पर काश्तकार का नाम न लग जाए। यदि बँटाई पर खेत काश्तकार को दिया भी जाता है तो भी सरकारी कागजों में खेत के जोतने के बारे में इन्दराज मालिक के नाम होता रहता है, न कि जोतने वाले के नाम।

४. जोत की हदबन्दी की कानूनी औपचारिकताएँ पूरी कर दी गई हैं। इसे संयुक्त परिवार का बँटवारा दिखाकर, या दूसरे सम्बन्धियों के नाम जमीन का हस्तान्तरण दिखाकर पूरा कर दिया गया है, जबकि खेत के वास्तविक मालिक पहले के बड़े काश्तकार ही हैं।

५. जमीन की मुनासिब मालगुजारी निश्चित करने के कारगर कदम नहीं उठाए गए हैं।

जोत का पुनर्गठन

खेती को लाभदायक धंधा बनाने की सबसे बड़ी बाधा आराजियों का छोटा और बिखरा होना है। इस देश की समूची कृषि-भूमि को अगर खेती में लगी जनसंख्या में बाँट दें तो प्रति व्यक्ति १·५ एकड़ भूमि आती है। देश के सभी ग्राम-परिवारों के तीन-चौथाई के पास ५ एकड़ से भी कम भूमि है। संयुक्त राज्य अमरीका में प्रति परिवार १४० एकड़ और इंग्लैंड में २७ एकड़ है। आराजियों के छोटे होने के साथ ही जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह इनके छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरे होने की भी है। छोटी और बिखरी आराजियों के कारण उनकी उत्पादकता बढ़ाने में निम्न बधाएँ हैं :

१. उचित रखवाली या देख-भाल नहीं हो पाती।
२. छोटी आराजियों के कारण बड़े पैमाने पर खेती करने की गुंजाइश कम है।
३. मशीनों के उपयोग को बढ़ाने में कठिनाई होती है।
४. अलग-अलग खेती करने से समय और श्रम की बर्बादी होती है।

इन सब बातों का प्रभाव यह होता है कि खेती पर लागत ज्यादा होती है और पैदावार कम।

यह संतोष की बात है कि चकबन्दी के जरिए इस दिशा में राज्य सरकारों ने कदम उठाए हैं, लेकिन चकबन्दी तो सिर्फ इस समय काश्तकार की जो भूमि है उसकी ही की जा रही है। आगे उन आराजियों को पुनः बँटने से रोकने की कोई व्यवस्था नहीं है। साथ ही, चकबन्दी से यह निश्चित नहीं किया जाता कि जो आराजियाँ पुनः संगठित होती हैं वे खेती की दृष्टि से लाभप्रद भी हैं।

प्रति परिवार जोतों के कम होने और आर्थिक रूप से उनके लाभप्रद न होने की समस्या को निम्न तरीकों से हल किया जा सकता है :—

१. सहकारी खेती की जाय।
२. ग्रामीण क्षेत्र में रोज़गार के दूसरे जरिए पैदा करके भूमि पर बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव को कम किया जाय।
३. ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियाँ बनाकर खेती को पूँजीवादी तरीकों से संगठित किया जाय।
४. सरकार द्वारा बड़े-बड़े फार्म बनाए जाएँ और स्टेट फार्म कायम किये जाएँ।

आराजियों को पुनर्गठित करने के इन सभी तरीकों को परिस्थितियों के अनुसार आजमाया जा सकता है, लेकिन समाजवादी नीति को ध्यान में रखते हुए

संयुक्त सहकारी खेती को बढ़ावा देना अधिक श्रेयस्कर होगा। इस विषय में विस्तार से अलग चर्चा की गई है।

बेकार भूमि का उपयोग तथा भूसंरक्षण

भूमि के बेहतर उपयोग के लिए कानूनी सुधार के अलावा कुछ ऐसे कार्यक्रमों को भी अपनाना होगा, जिनसे बेकार भूमि का खेती या अन्य किसी काम में उपयोग हो सके तथा जिस भूमि पर खेती होती है, उसे बेकार या कम उपजाऊ होने से बचाया जाय।

जहांतक बेकार भूमि को जोत में लाकर पैदावार बढ़ाने का प्रश्न है, यह कहा जाता है कि अब बेकार भूमि बहुत कम है और खेती के अन्तर्गत जितनी भूमि आनी चाहिए थी वह पहले ही आ चुकी है। लेकिन ऐसी धारणा इसलिए बन गई है कि हम सिर्फ अनाज पैदा करने से ही बेकार भूमि के उपयोग की बात सोचते हैं। बेकार भूमि का उपयोग जंगल या बाग लगाने या चारागाहों के विकास द्वारा भी किया जा सकता है। अनुमान है कि देश में करीब ९-१० करोड़ एकड़ भूमि ऐसी है जिसमें कभी खेती हुई थी, पर अब नहीं होती, कभी चारागाह थे या अब भी हैं, लेकिन उनका पूरा उपयोग नहीं होता तथा जंगली पेड़ या झाड़ियाँ उनमें खड़ी हैं। ऐसी ज़मीन, जिसे जोत में लाया जा सकता है या जो कभी जोत में थी और बाद में उसपर खेती करना छोड़ दिया गया, सिर्फ ऐसी जमीन ही २ करोड़ ५४ लाख एकड़ है। कृषि-उत्पादकता बढ़ाने और बेकार भूमि के भरपूर उपयोग के लिए यह बहुत आवश्यक है कि इस तरह की ज़मीन का किस काम में और किस तरह उपयोग किया जाय, इसके लिए कारगर कार्यक्रम बनाए जाएँ।

भारत सरकार ने १९५९ में बेकार भूमि के सर्वेक्षण हेतु एक समिति का गठन किया था जिसने १३ राज्यों में १२, २१,००० एकड़ भूमि ऐसी बताई जो खेती के काम में लाई जा सकती है। यह कहना सही होगा कि इस समिति ने अपनी सूचना का आधार माल मोहकमे के कागजों को बनाया होगा। ज़मींदारी खत्म होने पर बहुत-सी बेकार जमीन को पहले जो ज़मींदार थे उन्होंने जोत में दिखाना शुरू कर दिया है, भले ही उनपर काश्त नहीं होती। जो भूमि बेकार है, इस विषय में सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन जितनी बेकार भूमि का पता लगा है उसके उपयोग के बारे में अवश्यकुछ किया जा सकता है। चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान भूमिहीन किसानों को ऐसी ज़मीन देने के संकेत हैं।

कृषि-विकास-कार्यक्रमों में भूमि-संरक्षण-कार्यक्रम बहुत महत्वपूर्ण है। भूमि की उपजाऊ शक्ति को कायम रखने के लिए यह ज़रूरी है कि भूमि को हवा, पानी, या अन्य प्राकृतिक तत्वों द्वारा नष्ट होने से बचाया जाय। भूमि का ऊपरी सतह ही अक्सर तेज़ हवा, ज्यादा पानी और उसके बहाव से नष्ट होता है। वैसे हवा, पानी भूमि को उपजाऊ हालत में रखने में मदद करते हैं, लेकिन इनसे भूमि के कटाव को बचाना भी कृषि-कार्यक्रमों का आवश्यक अंग है। इस क्षेत्र में काम कर रहे अनुसंधान विशेषज्ञों का अनुमान है कि भारत में कटाव के कारण (उन क्षेत्रों में जहाँ भूमि-संरक्षण की उचित व्यवस्था नहीं है) एक एकड़ भूमि में ५० टन तक उपजाऊ मिट्टी एक वर्ष में नष्ट हो जाती है। इन्हीं विशेषज्ञों ने यह भी अनुमान लगाया है कि ४०० वर्ष से भी अधिक समय में १ इंच उपजाऊ भूमि की सतह तैयार होती है। इससे आप सोच सकते हैं कि भूमि के कटाव के कारण कितने बड़े पैमाने पर नुकसान होता है।

लेकिन यह समझना भूल है कि किसान भूमि के कटाव को रोकना नहीं चाहते। खेतों पर मेंड़ बनाकर भूमि के कटाव को रोकने का तरीका बहुत पुराना है, लेकिन वे इसके वैज्ञानिक तरीकों को अभी नहीं अपना सके हैं। वन-महोत्सव मनाने के पीछे भूमि-संरक्षण का ही उद्देश्य है, लेकिन यह एक उत्सव बनकर रह गया है, व्यक्तिगत रूप से कृषकों ने इस ओर बहुत रुचि नहीं दिखाई है।

महाराष्ट्र में किये गए कुछ सर्वेक्षणों से इस बात का पता चला कि राज्य की ७० प्रतिशत कृषि-भूमि पर धीरे-धीरे लगातार कटाव हो रहा है। ३० प्रतिशत भूमि पर यह कटाव इतनी तेज़ी से हुआ है कि वह अब कृषि योग्य रही ही नहीं। भूमि के कटाव के दो परिणाम हैं : (१) जोत की भूमि घटती जा रही है। (२) भूमि की उपजाऊ शक्ति घटती जा रही है। यदि इन पर नियंत्रण नहीं पाया गया तो वह बेकार हो जाएगी। उपजाऊ शक्ति घटने का अर्थ है कि उस पर उत्पादन कम होगा और लागत बढ़ती जाएगी।

मिट्टी की परख करनेवाले विशेषज्ञों ने यह भी पता लगाया है कि भूमि की नमी में भी लगातार कमी होती जा रही है। आज से ५० साल पहले की अपेक्षा भूमि की उत्पादन-क्षमता बहुत कम हो गई है और इसका मुख्य कारण भूमि-संरक्षण की व्यवस्था का न होना है।

चौथी योजना के अन्तर्गत भूमि-संरक्षण कार्यक्रमों पर विशेष ज़ोर देने का आश्वासन दिया गया है। अनुमान है कि इसके लिए १५५० अधिकारी, ८,३०७ सहायक तथा २४,००० उप-सहायक नियुक्त किए जाएँगे, जिन्हें पहले पूरी ट्रेनिंग दी जाएगी और फिर वे इस कार्यक्रम को लागू करेंगे। लेकिन अधिकारियों, कर्म-

चारियों की नियुक्ति ही इस योजना की सफलता की कसौटी नहीं कही जा सकती। इसके लिए कृषकों को तैयार करना बहुत ज़रूरी है। भूमि-संरक्षण-सम्बन्धी कानून भी अभी बहुत-से राज्यों में नहीं बन सके हैं।

सिंचाई

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने में सिंचाई के कार्यक्रमों का विशेष महत्व है। सिंचाई के कार्यक्रमों का महत्व इस तथ्य से समझा जा सकता है कि संसार की कुल भूमि में १० प्रतिशत में खेती होती है और सिर्फ १ प्रतिशत में सिंचाई होती है, लेकिन सिंचित-क्षेत्र से संसार की २५ प्रतिशत जनसंख्या के लिए पर्याप्त अन्न पैदा कर लिया जाता है। सन् १९५० में लगाये गए अनुमानों के आधार पर भारत में लगभग १३५·६ करोड़ एकड़ फुट नदी जल[1] है, परन्तु प्राकृतिक व भौगोलिक रचना-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण अधिकांश भाग का सिंचाई के लिए उपयोग संभव नहीं है। सिर्फ ४५ करोड़ एकड़ फुट नदी जल का सिंचाई के लिए उपयोग सम्भव है। लेकिन अब तक सिंचाई की जितनी सुविधाएँ उपलब्ध हैं उनसे हद-से-हद १६ एकड़ फुट पानी उपयोग में आ सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति द्वारा प्रदत्त जितना पानी सिंचाई के लिए उपलब्ध है, उसका बहुत कम अंश इस्तेमाल हो रहा है। भारत में लगभग ३९ करोड़ भूमि में खेती होती है और करीब ७ करोड़ भूमि में सिंचाई होती है। ज्यादातर खेती वर्षा पर निर्भर है।

गत दो-तीन वर्षों में, विशेषतः ६५-६६ में, पैदावार के खराब होने का कारण देश के कई भागों में पर्याप्त वर्षा का न होना रहा है। यदि हम चाहते हैं कि अन्न-संकट शीघ्र दूर हो तो यह ज़रूरी है कि सिंचाई के साधन बढ़ाए जाएँ। लेकिन सुविधाओं को बढ़ाने से कहीं महत्वपूर्ण है उन साधनों का भरपूर इस्तेमाल, जो अब तक उपलब्ध हैं। अक्सर यह देखा गया है कि सिंचाई-परियोजनाओं द्वारा जितनी भूमि को सींचने का लक्ष्य रखा जाता है उससे कम ही सिंचाई होती है। तीसरी योजना के अन्तर्गत १ करोड़ ८० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि को सींचने के लिए सुविधाएँ बढ़ाई गईं, लेकिन सिर्फ १ करोड़ ३० लाख एकड़ की सिंचाई हुई। अनुमान है कि कुल उपलब्ध साधनों का ४० प्रतिशत ऐसा है, जिसका हम उपयोग नहीं कर पाए हैं। सिंचाई द्वारा पानी की व्यवस्था के साथ कृषि के अन्य बहुत-से कार्यक्रम भी जुड़े रहते हैं। अगर सिंचाई के लिए ज्यादा पानी मिलेगा तो रासाय-

---

१. एक एकड़ जमीन को १ फुट गहरे पानी से भरने के लिए जितना पानी लगेगा, वह एकड़ फुट पानी कहलाता है।

निक खाद का प्रयोग भी बढ़ेगा। साथ ही बहुत-से बीज, जो ज़्यादा पैदावार देते हैं, वे ज़्यादा पानी भी चाहते हैं। अतः सिंचाई की व्यवस्था हमारे कृषि-विकास-कार्यक्रमों में बहुत महत्वपूर्ण है।

सिंचाई के उपलब्ध साधनों का भरपूर इस्तेमाल क्यों नहीं हो सका है, यह ऐसा प्रश्न है, जो उत्पादकता बढ़ाने से सीधा सम्बन्ध रखता है। इसके साथ ही यह जानना भी ज़रूरी है कि जो पानी नहर, कुओं, नलकूपों आदि द्वारा सिंचाई के लिए निकाला जाता है उसका कितना अंश खेतों में पहुँचने के पूर्व बेकार हो जाता है। ये सभी प्रश्न पानी के बेहतर इंतज़ाम से सम्बन्धित हैं। इन समस्याओं के प्रति उदासीनता बरतने के कारण ही हमारे यहाँ सिंचाई-परियोजनाओं द्वारा जितनी सिंचाई होनी चाहिए उतनी नहीं हो पाती। बिजली की सप्लाई में कमी और अव्यवस्था, डीजल या तेल का समय से और पर्याप्त मात्रा में न मिलना ताकि पम्पिग सेट ठीक से चलें, गूलों के निर्माण में बिलम्ब, गूलों का बना न होना, गूलों का कमजोर होना, नलकूपों की मरम्मत में अव्यवस्था, सिंचाई-दर का ज्यादा होना, पानी को बाँटने में अव्यवस्था और भ्रष्टाचार आदि ऐसे कारण हैं जिनसे सिंचाई के साधनों का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ ट्यूब वेल बने हैं परन्तु गूलें ठीक नहीं बनी हैं, वहाँ कृषक को कितनी कठिनाइयाँ होती हैं, इसका अनुमान जो उनके बीच रहते हैं या जो स्वयं खेती करते हैं वही लगा सकते हैं। कभी-कभी रात को ही बिजली ठीक आती है और उस समय ट्यूब वेल चलते हैं। अक्सर देखा गया है कि गूलें कच्ची होने के कारण पानी इधर-उधर बहता रहता है और किसान को इसका पता बाद में चलता है जब वह अपने खेत में कम पानी पहुंचता हुआ देखता है। दौड़-भाग में उसका समय नष्ट होता है। फिर जो पानी इधर-उधर बहता है वह कभी-कभी दूसरे खेतों को नुकसान पहुँचा देता है। सरकार ने चौथी योजना के अन्तर्गत इस तरह की समस्याओं को हल करने की ओर संकेत किया है लेकिन ये ऐसी समस्याएँ हैं, जो नीति-विषयक नहीं हैं। इनमें बहुत-सी समस्याएँ जिला, ब्लाक, और ग्राम-स्तर पर काम कर रहे सिंचाई-विभाग तथा इससे सम्बन्धित अधिकारियों, कर्मचारियों को अपने प्रशासनिक तरीकों में सुधार और कुशलता लाकर हल करना है।

सिंचाई के सम्बन्ध में आयोजकों तथा उच्चस्तरीय अधिकारियों की जिम्मेदारी वहाँ उठती है जहाँ बड़ी सिंचाई परियोजनाओं और छोटी सिंचाई योजनाओं में प्राथमिकता निश्चित करने का प्रश्न उठता है। उदाहरण के लिए योजनाओं के प्रारम्भ में बड़ी सिंचाई योजनाओं पर ज्यादा ध्यान दिया गया, लेकिन बाद में यह महसूस किया गया कि छोटी सिंचाई योजनाएँ अधिक कारगर

हैं। पानी के उचित वितरण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कहाँ बड़ी सिंचाई योजनाएँ ठीक होंगी, कहाँ छोटी, कहाँ और किन फसलों को क्यारी बनाकर पानी देने में ज्यादा लाभ होगा, कहाँ और किन फसलों में छिड़ककर सिंचाई करना ठीक होगा, इन सब बातों के बारे में किसानों को उचित जानकारी दी जाय। चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में सिंचाई की सुविधा के पूर्ण उपयोग के विषय में उल्लेख किया गया है और इसके लिए कारगर कदम उठाने के लिए कई सुझाव दिए गए हैं।

उन्नत किस्म के बीज

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने में उन्नत बीज बहुत महत्वपूर्ण हैं। दूसरे देशों में उन्नत बीजों द्वारा पैदावार बढ़ाने में काफी प्रगति हुई है। वहाँ अनुसन्धान द्वारा ऐसे बीजों का पता लगाया गया है जो बीमारियों से बच सकें और रासायनिक खाद डालने पर ज्यादा पैदावार दें। भारत में भी इस दिशा में कार्य किया गया है और इस समय संकर बीजों को बढ़ाने के कई कार्य-क्रम चलाये गए हैं। यह तो निर्विवाद है कि दूसरे देशों से बीज मँगाकर शोध द्वारा उन्हें भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल बनाना बहुत आवश्यक है। हमारा देश एक बहुत बड़ा देश है, जिसमें विभिन्न स्थानों की जलवायु अलग-अलग है। अतः मुख्य समस्या यह है कि किसानों को ऐसे बीज दिए जाएँ जो उनकी जमीन में ज्यादा पैदावार दे सकें।

इधर हाल में शोध द्वारा गेहूं, धान, ज्वार, बाजरा, मक्का के ऐसे बीजों का पता लगाया गया है, जो ज्यादा पैदावार दे सकते हैं। संकर बीज और बौने पौधेवाले बीजों से उत्पादन बढ़ाने में काफी मदद मिलती है। इस समय तक सिर्फ गेहूं की ६६ उन्नत किस्म के बीज और धान के ५५ किस्म के बीजों का पता लगाया गया है, उन्हें प्रयोग में लाया जा रहा है। किसान भी उत्तम बीज के अब कायल हो गए हैं और इनकी माँग बढ़ रही है। बढ़ती हुई माँग को देखकर तथा किसानों को उत्तम किस्म के बीज की पूर्ति के लिए सरकार ने राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की है। इस समय देश में १२० करोड़ एकड़ क्षेत्र में उन्नत बीज बोए जाते हैं। चौथी योजना के अन्त तक इसे २७४ करोड़ एकड़ तक बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया है।

उन्नत बीजों से उत्पादकता बढ़ाने के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है वे इस प्रकार हैं:

१. क्षेत्रीय आधार पर भूमि के परीक्षण के बाद हर किस्म के अनाज के

बारे में किसानों को यह सूचना दी जाए कि उनके लिए कौन-से बीज सर्वोत्तम हैं। वर्षा, भूमि की किस्म, सिंचाई के साधनों को ध्यान में रखते हुए इसका निर्णय किया जा सकता है।

२. इन नए बीजों के बोने, उनमें खाद देने, सिंचाई करने आदि सम्बन्धी तमाम बातों की किसानों को पूरी जानकारी दी जाए।

३. गरीबी और मँहगाई के कारण बीज के नाम पर लिये अनाज को बहुस-से किसान खाने के इस्तेमाल में लाते हैं। इस पर सख्त निगरानी रखी जाए।

४. बीज के समय से वितरण, उनको भण्डारों में ठीक ढंग से रखने, उनके परीक्षण, ग्रेडिंग आदि बातों में और सावधानी बरतने की जरूरत है।

५. केवल बीज फार्मों को बढ़ाने से कोई फायदा नहीं जब तक ये बीज किसानों को सस्ते दर पर मुहय्या नहीं किए जाते।

६. उन्नत बीज के वितरण को सिर्फ पैकेज प्रोग्राम वाले क्षेत्रों तक सीमित न रखकर दूसरे क्षेत्रों में भी बड़े पैमाने पर बढ़ाया जाए।

७. बौने पौधे वाले बीजों के ज्यादा बोने के साथ जो कठिनाइयां पैदा हो सकती हैं उन पर भी विचार करना आवश्यक है। ऐसे पौधों को पैदा करने से चारे की समस्या और मुश्किल ढंग से हमारे सामने आएगी। कहीं ऐसा न हो कि एक तरफ हमने ज्यादा पैदावार पर ऐसे बीज द्वारा जोर दिया तो दूसरी ओर चारे की समस्या भी उठ खड़ी हो। विशेषज्ञों का अनुमान है कि अगर पशुओं के चारे की समस्या हमने हल नहीं की तो ५ साल बाद इस क्षेत्र में भी वही स्थिति उत्पन्न होगी जो अनाज के मामले में इस समय पैदा हो गई है।

८. उन्नत बीजों का पता लगाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाए कि रासायनिक खाद के अलावा दूसरी खादों के इस्तेमाल से भी पैदावार बढ़े। ऐसा इसलिए जरूरी है कि हमारे देश में रासायनिक खाद की पूर्ति इतनी नहीं है जितनी उसकी माँग है। इसी तरह पानी से पैदावार बढ़ानेवाले बीजों के अलावा कम वर्षा या अनावृष्टि की स्थिति में भी अच्छी पैदावार देनेवाले बीजों का पता लगाया जाए।

९. सीड फार्मों की व्यवस्था में सुधार करके बीज की उत्पादन-लागत
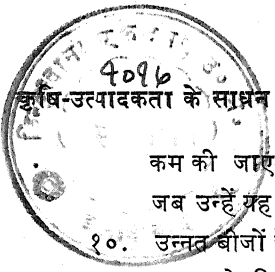
कम की जाए। छोटे किसान तभी इन बीजों से लाभ उठा पाएँगे जब उन्हें यह सस्ते दर पर उपलब्ध होगा।

१०. उन्नत बीजों के प्रचार के लिए प्रदर्शनों का आयोजन किया जाए। अच्छा हो कि प्रोत्साहन देकर प्रगतिशील कृषकों से ही इन्हें पहले बोने को कहा जाए।

उर्वरक

बीसवीं सदी में कृषि के क्षेत्र में क्रांति लाने में उर्वरकों से बहुत मदद मिली है। हमारे देश में कृषि का काम हजारों वर्षों से होता आ रहा है, लेकिन भूमि को पर्याप्त मात्रा में खाद नहीं दी जाती रही। कृषि-विशेषज्ञों का अनुमान है कि भूमि की उपजाऊ शक्ति को सन्तुलित रूप से कायम रखने के लिए जितनी खुराक की भूमि को जरूरत है, उसका सिर्फ १/१० भारतीय किसान अपने खेतों में डालते हैं। हमारे यहाँ औसतन प्रति हेक्टर ३ किलोग्राम रासायनिक खाद डाली जाती है जबकि विश्व की औसत २३ कि.ग्रा. है। इंग्लैंड में प्रति एकड़ २५० पौंड रासायनिक खाद का उपयोग होता है। वैसे भारत में गोबर की खाद, कूड़ा-कर्कट, पत्तियों की खाद पहले से डाली जाती रही है, लेकिन वह भूमि को उपजाऊ हालत में रखने तथा उससे अधिक-से-अधिक पैदावार हासिल करने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं कही जा सकती। वस्तुतः फसल से ज्यादा-से-ज्यादा पैदावार लेने के लिए जिन तत्वों की सबसे अधिक आवश्यकता होती है, उनमें नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटेशियम प्रमुख हैं। देश के विभिन्न भागों में किये गए परीक्षणों से यह पता चला है कि इन उर्वरकों की सहायता से पैदावार कई गुना बढ़ाई जा सकती है। गोबर की खाद से पोषक तत्वों की कुछ कमी पूरी हो जाती है, लेकिन इनमें वे सभी तत्व नहीं होते जो कृत्रिम खादों में रहते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत में रासायनिक खादों का प्रयोग थोड़ा-थोड़ा बढ़ा। उसके पूर्व इसका प्रयोग सिर्फ गन्ने के खेतों और बागानों में ही होता था। पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान कृषि-विभागों या सामुदायिक विकास-विभाग के कर्मचारियों तथा प्रगतिशील कृषकों ने इसका काफी प्रचार किया है और अब पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में रासायनिक खाद की माँग होने लगी है। यद्यपि हमारे देश में नाइट्रोजन, अमोनिया सल्फेट, नाइट्रेट, यूरिया, कैल्शियम, अमोनियम नाइट्रेट, अमोनियम क्लोराइड, अमोनियम सल्फेट, फास्फेट आदि उर्वरकों का प्रयोग होने लगा है, लेकिन फिर भी अभी उतने बड़े पैमाने पर इन खादों का प्रयोग नहीं हो रहा है जितने बड़े पैमाने पर होना चाहिए।

उर्वरकों के प्रयोग को बढ़ाने में निम्न कठिनाइयाँ हैं :

१. उर्वरकों का उपयोग तभी बढ़ेगा जब सिंचित क्षेत्र भी बढ़े। वैसे असिंचित क्षेत्र में रासायनिक खादों का उपयोग हो सकता है, लेकिन इसमें किसानों को बहुत सतर्क रहना होगा और खाद की मात्रा आदि के बारे में विशेष जानकारी रखनी होगी।

२. रासायनिक खाद उतनी मात्रा में उपलब्ध नहीं है जितनी उसकी माँग है।

३. रासायनिक खाद की पूर्ति समय से नहीं हो पाती। वितरण-व्यवस्था दोषपूर्ण है।

४. इनकी कीमत ज्यादा है। विश्व के दूसरे देशों के मुकाबले रासायनिक खादों का मूल्य भारत में दूना है, जबकि कृषकों की क्रय-शक्ति बहुत ही कम है। खेती के मानसून और प्रकृति पर निर्भर रहने के कारण यदि कभी किसान की फसल मारी जाती है तब रासायनिक खाद पर किया गया व्यय सबसे अधिक खलता है।

५. रासायनिक खादों के उपयोग की विधि और इसकी उपयोगिता के बारे में सामान्य कृषकों की जानकारी अपर्याप्त है। जो कृषक इसके प्रयोग द्वारा अधिक पैदावार प्राप्त कर सके हैं, वे भी अभी ऐसा मानते हैं कि ज्यादा समय तक इसके इस्तेमाल से भूमि की उर्वराशक्ति समाप्त हो जाएगी। इस धारणा के कारण वे भी इसके इस्तेमाल को काफी मात्रा में बढ़ाने से हिचकते हैं।

उर्वरकों का प्रयोग बढ़ाने के लिए भारत सरकार ने तीसरी योजना के अन्तर्गत नाइट्रोजन, फास्फेट और पोटाश उर्वरकों की खपत की मात्रा क्रमशः १० लाख, ४ लाख और २ लाख टन रखी थी, लेकिन यह लक्ष्य पूरे नहीं हुए। चौथी योजना में लक्ष्य काफी ऊँचे रखे गए हैं। यदि हम चाहते हैं कि उर्वरकों का बड़े पैमाने पर उपयोग हो तो हमें इन समस्याओं को हल करना होगा जिनका यहाँ पहले जिक्र किया गया है। रासायनिक खादों की पूर्ति समय से और सस्ते दर पर बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही, इसके प्रयोग के तरीकों को खेतों में प्रदर्शन करके, चलचित्र आदि की सहायता से किसानों को बताया जाए। इस तरह के प्रदर्शनों या प्रचार में सिर्फ इस बात पर ही ज़ोर न दिया जाए कि रासायनिक खाद का क्या महत्त्व है, उन तरीकों पर भी जोर दिया जाए कि कैसे इनका अच्छे-से-अच्छा और किफायत से इस्तेमाल संभव है। खाद की उत्पादन-लागत को कम करने के अलावा अनुदान तथा अन्य प्रोत्साहन के तरीकों से इन्हें सस्ते दर

पर उपलब्ध कराया जाए। दूसरे देशों में भी रासायनिक खादों के प्रयोग को बढ़ाने के लिए सरकार ने किसानों को आर्थिक सहायता दी है।

रासायनिक खादों के उपयोग को बढ़ाने के साथ ही कम्पोस्ट की खाद और हरी खाद के उपयोग को भी बढ़ाना चाहिए। यदि इनके साथ रासायनिक खाद का उपयोग किया जाए तो उससे बहुत अच्छे परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। जापान में भी कुल खाद का ५० प्रतिशत गोबर, मलमूत्र, हरी खाद के रूप में खेतों में डाला जाता है। हमारे यहां मलमूत्र, पत्तियों, गोबर, कूड़ा आदि का पूरा उपयोग नहीं होता। अधिक पैदावार लेने के लिए जापान में मलमूत्र को ज़रा भी बरबाद नहीं होने दिया जाता। सरकार ने कम्पोस्ट के गड्ढे बनाने और हरी खाद के क्षेत्र को बढ़ाने के गत वर्षों में कई अभियान चलाए हैं, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में देखा गया है कि गड्ढे या तो ठीक से बनाए नहीं गए, या बने ही नहीं या बने भी तो जिस विधि से उनमें खाद रखी जानी चाहिए, उसके अनुसार रखी नहीं जाती। साथ ही, हरी खाद के बीज मँहगे होने और सिंचित क्षेत्र के सीमित होने के कारण इस दिशा में भी आशानुकूल प्रगति नहीं हो सकी। इस सम्बन्ध में किसानों की जो व्यावहारिक कठिनाइयां हैं, उन्हें पहले दूर किया जाए।

कृषि में मशीनों का उपयोग

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए खेती के कार्य में मशीनों के उपयोग को बढ़ाना भी बहुत आवश्यक है। खेती में मशीनों के उपयोग को बढ़ाने के निम्न मुख्य लाभ हैं :—

१. खेती के बहुत-से कामों में जो बर्बादी होती है, उसे रोका जा सकता है।
२. खेती के कार्यों में बढ़ती हुई लागत को घटाया जा सकता है।
३. समय की बचत हो सकती है।
४. मानव-क्षमता बढ़ाई जा सकती है।

वस्तुतः हमारी एक मुख्य समस्या यह है कि विज्ञान और टेकनालॉजी का खेती के काम में कैसे पूरा लाभ उठाया जाए। इसके लिए कृषि के क्षेत्र में मशीनों के उपयोग को बढ़ाना ही होगा। खेती में इस समय मुख्यतः शक्ति के दो साधन हैं। एक तो पशु जो हल चलाने या कृषि की अन्य क्रियाओं के लिए काम आते हैं और दूसरा मानव-शक्ति। लेकिन अब जब हम पैदावार बढ़ाना चाहते हैं और गहरी खेती द्वारा कई फसलें उगाना चाहते हैं, उस समय शक्ति के पुराने साधनों, पुराने औजारों पर निर्भर करना असंभव है। ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली की सप्लाई,

ट्रैक्टर, ट्यूबवेल, पम्पिंग सेट आदि के प्रवेश ने कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति लाने की सम्भावनाओं को अधिक स्पष्ट कर दिया है। यदि इनकी सहायता से पैदावार बढ़ाने के कार्यक्रमों को आगे बढ़ाना है तो फिर नए-नए औजार और मशीनों का उपयोग जरूरी है।

जबतक शक्ति के साधनों को ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ाकर तथा उनसे कृषि में मशीनों के इस्तेमाल को बढ़ाया नहीं जाता तबतक हमारे कार्यक्रम सीमित सफलता ही प्राप्त कर सकेंगे। मध्य प्रदेश के रायपुर जिले के एक सर्वे के अनुसार वहाँ के सारे बैल या भैंसे, जो हल जोतने के काम आते हैं, यदि उन्हें जिले के पूरे धान के खेतों को तैयार करने और बोने में पुराने हल के साथ लगाया जाए तो वे ५६ दिन इस काम के लिए लेंगे। लेकिन यदि सभी जगह लोहे के अच्छे हल इस्तेमाल किए जाएँ तो खेत २८ दिन में तैयार हो सकते हैं। धान के बोने का उपयुक्त समय ५६ दिनों तक नहीं रहता, वह मुश्किल से १०-१५ दिनों के बीच रहता है, क्योंकि रोपाई या बोवाई जब जोरों की वर्षा होती है उसी बीच होती है। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अधिकांश बोवाई या रोपाई ऐसे समय होती है जब भूमि बोने के लिए पूरी तरह उपयुक्त नहीं रहती है। यही बात रबी की बोवाई पर भी लागू होती है। रबी के दिनों में खेतों की पूरी जुताई तो होनी ही चाहिए, उसमें नमी भी बनी रहनी चाहिए। किसान बैलों से खेत जोतने में इतना समय लेते हैं कि खेत की नमी जितनी रहनी चाहिए उतनी नहीं रह पाती। यदि जोत का कुछ काम ट्रैक्टरों से होने लगे तो यह समस्या बहुत हद तक हल हो जाएगी।

आजादी के लगभग २० साल बाद भी देश के अधिकांश कृषक देशी हलों का ही इस्तेमाल करते हैं। अनुमान है कि यदि देशी हलों की जगह मिट्टी पलटने वाले सुधरे हुए अच्छे हलों का इस्तेमाल किया जाए, तो इससे खेतों को तैयार करने में जो समय लगता है उसका ४० प्रतिशत बच सकता है और ९७ लाख जोड़े बैल, जिनकी कीमत ४०० करोड़ रुपये से ज्यादा ही होगी, उसकी बचत हो सकती है।

हमारे यहाँ भूमि का लेवल भी कई जगह ठीक नहीं है। ऐसे स्थानों पर खेती तो होती है, लेकिन यदि यहाँ लेवल ठीक कर दिया जाए तो खेत और भी अच्छी तरह तैयार हो जाएँगे और सिंचाई के उपयुक्त हो जाएंगे। इससे भूमि का कटाव भी रोका जा सकेगा। इस तरह की जमीन थोड़ी-बहुत हर गाँव में है। इस काम को मशीनों द्वारा ही किया जा सकता है। इसी प्रकार हम यदि खेती की अन्य क्रियाओं पर गौर करें तो मशीनों के इस्तेमाल की काफी गुंजाइश है। खेत जोतने, सिंचाई, खर-पतवार की सफाई, खाद के बिखेरने, कीट-नाशकों

छिड़कने, कटाई, दँवरी, ओसावनी आदि सभी कामों में मशीनों के इस्तेमाल कुशलता बढ़ सकती है।

श्री अजित प्रसाद जैन के नेतृत्व में संगठित योजना आयोग के एक कृषि-ने कुछ समय पूर्व खेती के यंत्रीकरण की जोरदार सिफारिश की है। इस दल ५ से २५ एकड़ तक की खेती करने वाले किसानों के लिए 'पावर टिलर' और ससे बड़े किसानों के लिए 'ट्रैक्टर' के प्रयोग का सुझाव दिया है। इस दल ने जारों को देश में ही बड़ी संख्या में बनाने का भी सुझाव दिया है।

खेती के क्षेत्र में यंत्रों के प्रयोग को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित कदम ठाने होंगे :—

१. गाँवों में उद्योगों का विकास तेजी से किया जाए और ऐसे निर्माण-कार्य शुरू किए जाएँ कि यंत्रों के प्रयोग से बेकार होनेवाले लोगों को रोजी मिले। कुछ समय पूर्व भूतपूर्व केन्द्रीय खाद्य मंत्री श्री सुब्रह्मण्यम ने दिल्ली में आयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में बताया था कि कृषि के आधुनिकीकरण से आगामी १५ वर्षों में ४ करोड़ व्यक्ति कृषि-कार्यों से अलग हो सकते हैं, अतः मुख्य समस्या इस जन-शक्ति को दूसरे उपयोगी कार्यों में लगाने की होगी। उन्होंने यह भी कहा था कि यह विस्थापन कृषि-विकास के लिए ठीक ही होगा, क्योंकि इससे कृषि-भूमि पर जो 'भारी भीड़' हो गई है, वह दूसरी जगह लग जाएगी और भूमि की उत्पादकता भी बढ़ाई जा सकेगी।

२. इसके साथ ही कृषि-मजदूरों की गतिशीलता बढ़ाई जाए, ताकि उन्हें एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, जहाँ अधिक माँग है, भेजा जा सके।

३. खेतों की चकबन्दी का काम तेजी से पूरा किया जाए, ताकि उसमें मशीनों के उपयोग की गुंजाइश हो।

४. छोटे कृषकों के हितों को ध्यान में रखते हुए कृषि-यन्त्रों के खरीदने, उनके रख-रखाव की जिम्मेदारी सहकारी समितियाँ लें और इन्हें सस्ते दाम पर या किराए पर कृषकों को उपलब्ध कराएँ।

५. मशीनों का देश के अंदर अधिक उत्पादन हो और उनपर लागत-खर्च कम किया जाए, ताकि वे कम कीमत पर मिलें और किसान उन्हें रख सकें। लेकिन कीमत कम करने का यह मतलब नहीं कि मशीनों को घटिया किस्म का बनाया जाए।

६. मशीनों के रिपेयर या मरम्मत के लिए सर्विस सेन्टर खोले जाएँ।

ऊपर जो सुझाव दिये गए हैं, उनका मतलब यह नहीं कि मशीनों के उपयोग को तबतक नहीं बढ़ाया जा सकता जबतक सारी कठिनाइयाँ दूर नहीं कर दी जातीं। आँकड़ों के अनुसार देश के ३९ प्रतिशत किसानों के पास २० से १०० एकड़ के फार्म हैं और ६ प्रतिशत के पास १०० एकड़ से भी ऊपर। इनमें कुछ प्रगतिशील किसानों ने मशीनों का उपयोग करना तो शुरू किया है, लेकिन अब भी अधिकांश पुराने तरीकों से ही खेती करते हैं। दूसरे छोटे किसान भी खेती की कुछ क्रियाओं में मशीनों की सहायता ले सकते हैं। मशीनीकरण के लिए कृषि में अधिक पूँजी भी लगानी होगी, अतः इस दिशा में धीरे-धीरे ही प्रगति सम्भव है।

अनुसंधान

कृषि के क्षेत्र में विज्ञान और टेकनालॉजी का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए मशीनों के उपयोग को बढ़ाने के साथ ही अनुसन्धान-कार्य को भी आगे बढ़ाना होगा। कृषि के क्षेत्र में जो पिछड़ापन है, उसे दूर करने में अनुसन्धानों का विशेष महत्व है। इसके लिए आवश्यक है कि अनुसन्धान-कार्य को नियोजित आधार पर तथा कृषि की मुख्य समस्याओं को ध्यान में रखते हुए संगठित किया जाए। आज भी हमारे देश में कृषि-अनुसन्धान के काम चल रहे हैं, लेकिन बहुत-से विशेषज्ञों का विचार है कि अधिकांश अनुसन्धान करनेवाले समस्याओं के सैद्धान्तिक पक्ष पर अधिक जोर देते हैं और व्यावहारिक पहलू पर कम। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् ने इस ओर ध्यान दिया है और उसने खेती को कई नई चीजें दी हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा देश बहुत बड़ा है और यहाँ क्षेत्रीय आधार पर बड़े पैमाने पर अनुसन्धान-कार्य करना होगा। मिट्टी को परखने, उसे सुधारने, पौधों के रोग और कीट-व्याधियों का पता लगाकर उन पर काबू पाने, अच्छे पशुओं को तैयार करने, नए औजार तैयार करने, अधिक उपज के लिए कृषि-कार्य की नई विधियों का पता लगाने, पैदावार की किस्म सुधारने, कृषि-कार्यों में होनेवाली बर्बादी को कम करने आदि बहुत-से क्षेत्रों में अनुसन्धान करने हैं। यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि अनुसन्धानकर्ता इन समस्याओं से अवगत नहीं हैं या उन्होंने इन पर काम नहीं शुरू किया है, लेकिन इतना अवश्य है कि खेती की समस्याओं और इसके व्यापक क्षेत्र को देखते हुए जो अनुसन्धान-कार्य हो रहे हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं।

अधिक उपज देने वाले बीजों के पता लगाने और पौधों की बीमारियों की रोकथाम की दिशा में कई महत्वपूर्ण खोजें की गई हैं और उनसे किसानों को लाभ पहुँचाने की कोशिश भी हो रही है, लेकिन क्या हम पुराने ढंग से हो रही खेती

आधुनिक और व्यावसायिक खेती में बदल सके हैं ? जब तक इस दिशा में हम
ालता नहीं पाते तब तक अनुसन्धान की सार्थकता कुछ भी नहीं है। इसके लिए
से जरूरी बात यह है कि जो कुछ भी अनुसन्धान हों, वे इस दृष्टि से हों कि
हें किसान आसानी से और कम व्यय पर अपना सकें। देश के विभिन्न भागों में
ट्टी और जलवायु ऐसी नहीं है कि एक ही तरह से सभी जगह खेती को पुनर्ग-
त किया जाए। कहीं ज्यादा वर्षा होती है तो कहीं कम। कहीं मिट्टी मुलायम
तो कहीं सख्त। कृषि-अनुसन्धान में लगे विशेषज्ञों को विभिन्न क्षेत्रों की भूमि,
लवायु और परिस्थितियों की भिन्नता को ध्यान में रखकर कारगर अनुसन्धान
रना होगा। इसके लिए अनुसन्धान-कार्य को विकेन्द्रित करना होगा, ताकि अनु-
न्धानकर्ता विभिन्न क्षेत्रों में रहकर वहाँ की परिस्थितियों में काम करें और
ानीय व्यक्तियों को इन अनुसन्धानों की उपयोगिता से अवगत कराएँ। इसके
ाथ ही हमें यह भी देखना है कि किसी विदेशी टेकनीक को हम आँख मूँदकर
ीकार न कर लें। उन्हें भारतीय परिस्थितियों में किस तरह लागू किया जा
कता है, इस पर विशेष रूप से विचार करें।

देश में स्थापित अनुसन्धान-केन्द्रों के कार्य को अधिक कारगर बनाने के
ाए यह भी आवश्यक है कि उनके अब तक किये गए कार्यों का ठीक-ठीक मूल्यां-
न किया जाए। यह मूल्यांकन इस आधार पर हो कि इनके ऊपर होने वाले व्यय
अनुपात में उनके अनुसन्धानों से कितना लाभ उठाया गया है और बाद में
ठाया जा सकता है। यह मूल्यांकन प्रत्येक दूसरे वर्ष किया जाए। अनुसन्धानों
ी संख्या बता देने से कोई लाभ नहीं है। अभी हाल ही में समाचारपत्रों में पढ़ने
ो मिला कि खेती में रेडियो आइसोटोप नामक अणु-विकिरण की सहायता से न
ेवल उपज बढ़ाई जा सकती है, उसकी किस्म में भी सुधार किया जा सकता है।
जन वैज्ञानिकों ने इन बातों का पता लगाया है या इन्हें कर दिखाया है, वे
धाई और सम्मान के पात्र हैं लेकिन भारत जैसे गरीब देश में हमें यह भी देखना
ोगा कि इन पर होने वाला व्यय कहीं बहुत अधिक न हो और खर्च के मुकाबले में
ो नतीजे हासिल हों बहुत साधारण न हों। अनुसन्धान ऐसे होने चाहिए कि उनसे
ीघ्र और अच्छे परिणाम मिलें।

अनुसन्धान का क्षेत्र भी विस्तृत होना चाहिए। उसका क्षेत्र कृषि में होने-
ाली बर्बादी को रोकने का भी होना चाहिए। यह बर्बादी कृषि की विभिन्न
क्रियाओं के अतिरिक्त अनाज को भण्डारों में रखने, उनकी सफाई, उनके एक जगह
े दूसरी जगह भेजने आदि अनेक स्तरों पर होती है। उदाहरण के लिए विदेशों
ें राइस मिलों में धान का ७२ प्रतिशत चावल के रूप में निकलता है, जबकि

भारत में मुश्किल से ५५ प्रतिशत। इसके अतिरिक्त चावल टूटता भी है। फिर चावल के ऊपर का जो महीन खुद्दी निकलता है उसका उपयोग किस प्रकार हो, इसके बारे में पता लगाया जाए। पता चला है कि इससे तेल बन सकता है और विदेशों में बहुत ऊँची कीमत पर बिक सकता है। इसी तरह व्यापारिक फसलों, जूट, कपास, तिलहन आदि की किस्म में भी सुधार करने पर ध्यान देना होगा। वस्तुतः कृषि-अनुसन्धान को पुनर्गठित करने की आवश्यकता है, ताकि यह कार्य अधिक उपयोगी हो सके।

पूँजी

जहाँ तक पूँजी का प्रश्न है, यह बड़ी स्पष्ट-सी बात है कि जब वैज्ञानिक आधार पर और मशीनों की सहायता से खेती को पुनर्गठित करने का प्रश्न उठेगा, उस समय अधिक पूंजी की भी आवश्यकता होगी। खेती के अधिकांश साधन किसानों के पास पर्याप्त मात्रा में नहीं रहते। वैसे भी निर्वाह-खेती की स्थिति में किसानों के पास पूंजी का बराबर अभाव रहता है, क्योंकि वह जो कुछ पैदा करते हैं उनका अधिकांश उपभोग में लाते हैं और पुनः खेती में लगाने के लिए उनके पास पूंजी के रूप में सिर्फ थोड़ा बीज बच रहता है। कभी-कभी वह भी नहीं बचता। अधिकांश किसान ऋणग्रस्त रहते हैं और खेती के काम के लिए उनके पास पूंजी रहती ही नहीं। अतः वैज्ञानिक ढंग से व्यावसायिक खेती करने की बात तो दूर रही, निर्वाह खेती के लिए भी छोटे किसानों के पास पर्याप्त पूंजी नहीं रहती। ऐसी स्थिति में यदि भारतीय कृषि को पुनर्गठित करना है, तो आवश्यक है कि कृषकों को पर्याप्त मात्रा में, समय से पूंजी प्राप्त हो और उसका वे ठीक-ठीक ढंग से इस्तेमाल करें।

व्यक्तिगत आधार पर खेती के लिए पूंजी का निर्माण जो कृषक कर सके हैं, उनकी संख्या बहुत कम है। अतः अधिकांश दूसरे ज़रियों से ही पूँजी की व्यवस्था करते हैं। ये ज़रिए ग्रामीण साहूकार और सहकारी संस्थाएँ हैं। जहाँ तक ग्रामीण साहूकार से ऋण लेने का प्रश्न है, यह बात बहुत पहले से स्वीकार की जाती है कि साहूकारों से ऋण लेकर कृषक की आर्थिक स्थिति सुधरने की जगह और खराब हो जाती है और वह शोषण का शिकार होता है। साहूकारों के पास ऋण के लिए छोटे और गरीब कृषकों को इसलिए जाना पड़ता है कि सहकारी समितियों से वे पर्याप्त मात्रा में ऋण नहीं ले पाते। भूमिहीन कृषकों को सहकारी समितियाँ अभी तक ऋण देती भी नहीं हैं। अतः घूम-फिरकर कृषक को ऋण के लिए साहूकार के पास जाना पड़ता है।

ऋण की व्यवस्था को सुधारने के लिए जहाँ एक ओर सहकारी समितियों को मजबूत बनाने की आवश्यकता है, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे-छोटे बैंकों को स्थापित करने की भी ज़रूरत है। और इनके साथ ही एक ऐसी एजेन्सी कायम करने की जरूरत है, जो क्षेत्रीय आधार पर हर गाँव के कृषकों की आवश्यकता का ठीक-ठीक अन्दाज लगा सके और जो ऋण वितरित होता है, उसके ठीक उपयोग और समय से वसूली का जिम्मा ले सके।

कीट-नाशक दवाएँ

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के साधनों में कीट-पतंगों और बीमारियों से खेती को बचाने का कार्यक्रम भी बहुत महत्वपूर्ण है। कृषि-विशेषज्ञों का अनुमान है कि हमारे देश में कीट-पतंगों तथा बीमारियों से प्रति वर्ष ५ प्रतिशत फसल बर्बाद हो जाती है, जो लगभग ४५० करोड़ रुपये की होती है। इस समय ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश कृषक यह जानते भी नहीं कि पौधों की बीमारियों से बचाने के लिए क्या करना चाहिए या कौन-सी नई विधियाँ निकाली गई हैं। कुछ कृषक, जो बीमारियों की रोक-थाम के लिए इन्तजाम भी करते हैं, तो बगल के खेत वाले दूसरे कृषक जो इनकी व्यवस्था नहीं करते, उनके खेतों से बीमारियाँ या कीट-पतंग दूसरे खेतों में फैल जाते हैं और नुकसान पहुँचाते हैं। इस तरह इसकी व्यवस्था पूरे क्षेत्र में होनी चाहिए। कीट-पतंगों को नष्ट करने और पौधों को रोगों से बचानेवाली दवाओं को पर्याप्त मात्रा में और सस्ते दर पर उपलब्ध कराना और उनके ठीक-ठीक इस्तेमाल को बताना, ये बातें बहुत आवश्यक हैं। इसके लिए कीटनाशकों के उत्पादन को बढ़ाने के साथ ही बड़े पैमाने पर ऐसे टेकनीकल स्टाफ को रखने की आवश्यकता है, जो ग्रामीण क्षेत्र में इस कार्यक्रम को सफलतापूर्वक लागू कर सकें।

खेतिहर मजदूर

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के कार्यक्रम में खेतिहर श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाने का प्रश्न भी काफी महत्वपूर्ण है। खेतिहर श्रमिक देश की कुल श्रम-शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इनकी संख्या ३·१५ करोड़ थी। अनुमान है कि इस समय देश में उनकी संख्या ४ करोड़ के आस-पास होगी। कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के अधिकांश कार्यक्रम इन्हीं श्रमिकों के हाथों किया जाना है और अगर इनकी कुशलता नहीं बढ़ाई जाती है, तो फिर इस दिशा में सफलता की आशा कैसे की जा सकती है।

खेतिहर मजदूरों की आर्थिक स्थिति की जाँच सबसे पहले १९५०-५१ में

की गई थी। १९५६-५७ में दोबारा जाँच-समिति नियुक्त हुई जिसने १९६० में अपनी रिपोर्ट दी। इस रिपोर्ट से निम्न बातें सामने आईं :

१. खेतिहर मजदूरों के पास साल-भर काम नहीं रहता। इनमें से बहुत से पूरे समय के लिए बेरोजगार हैं।
२. इनकी मजदूरी और वार्षिक आय बहुत कम है।
३. इनका खर्च आय से काफी अधिक है, अतः इनमें बहुत-से कर्ज के बोझ से दबे रहते हैं।
४. खेतिहर श्रमिकों में स्त्रियों और बच्चों की संख्या बहुत अधिक है।
५. कुल खेतिहर मजदूरों का २९ प्रतिशत सिर्फ उत्तर प्रदेश और बिहार में है और वह सबसे खराब स्थिति में है।
६. खेतिहर मजदूरों का वर्गीकरण अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उनमें बहुत-से थोड़ी-थोड़ी जमीन जोतते हैं और रोजी के लिए खेती भी करते हैं।

खेतिहर मजदूरों की इन समस्याओं का हल उनकी उत्पादकता बढ़ाने के लिए आवश्यक है। इन समस्याओं को एक दीर्घकालीन योजना बनाकर ही हल किया जा सकता है, जिसमें मजदूरों की उचित न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने, ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के दूसरे अवसर प्रदान करने, श्रमिकों को जहाँ उनकी संख्या ज्यादा है वहाँ से जहाँ उनकी संख्या कम है और माँग ज्यादा है उन क्षेत्रों में बसाने, तथा आधुनिक तरीकों से खेती करने के बारे में उन्हें प्रशिक्षित करने के कार्यक्रमों पर जोर दिया जाय।

उत्पादकता-विशेषज्ञों को खेतिहर मजदूरों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए खास तरह के अध्ययन-कार्यक्रम भी चलाने होंगे, जिनके द्वारा यह पता चले कि देश के किस क्षेत्र में कितने बड़े खेत या फार्म पर कितने मजदूरों का लगाना आर्थिक रूप से उत्पादक होगा। यह खेती करने के तरीकों को ध्यान में रखकर ही निश्चित किया जा सकता है। लेकिन खेतिहर मजदूरों की सभी समस्याओं का हल मूलतः दो रूपों में ही निकाला जा सकता है। सबसे आवश्यक बात उनके लिए रोजगार के दूसरे अवसर प्रदान करने की है। इसके बाद उनकी न्यूनतम मजदूरी तय करने का भी प्रश्न है। रोजगार को बढ़ाने का प्रश्न एक दीर्घकालीन नीति का ही अंग हो सकता है। साथ ही, भूमिहीन मजदूरों को, खास तौर से उन्हें जो भूमि जोतते तो हैं लेकिन उसके मालिक नहीं हैं, उन्हें भू-स्वामित्व दिए जायँ ताकि कृषि-उत्पादकता बढ़ाने में उनकी रुचि बढ़े। भूमि-सुधार वाले अध्याय में स्वामित्व-सम्बन्धी प्रश्न पर विस्तार से हमने पहले ही विचार किया है।

: ४ :

कृषि में बर्बादी रोकें

अब तक हमने कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के साधनों पर विचार किया, लेकिन साधनों के बढ़ाने के साथ ही उत्पादकता बढ़ाने के लिए बर्बादी को रोकना भी अत्यन्त आवश्यक है। यदि खेती की विभिन्न क्रियाओं को देखें तो पता चलेगा कि थोड़ी-सी सावधानी और प्रयत्न से खेती में होने वाली इस बर्बादी को रोका और घटाया जा सकता है। यह बर्बादी बीज की बोवाई, खेतों की सिंचाई, खेतों की कटाई, दांवरी, (थ्रैशिंग) ओसावनी आदि सभी कामों में होती है। फिर पैदावार को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने, उसको खत्तियों, बखारों और गोदामों में रखने, उसके उपयोग आदि में कुछ-न-कुछ नुकसान होता है। यदि हम चाहते हैं कि कृषि-उत्पादकता बढ़े तो यह जरूरी है कि खेती के तरीकों और पैदावार को भण्डारों में रखने, उसके वितरण आदि कामों को वैज्ञानिक आधार पर करें, ताकि इसमें होनेवाली बर्बादी घटाई जाय। अनुमान है कि चूहों, जानवरों, चिड़ियों, पौधों की बीमारियों, कीट-पतंगों आदि के कारण देश में पैदा होनेवाले अनाज का लगभग २० से ३० प्रतिशत नष्ट हो जाता है। यदि इसका ५० प्रतिशत भी बर्बाद होने से बचा लिया जाय तो देश की खाद्य समस्या को हल करने में बहुत मदद मिल जाएगी।

खेती की क्रियाओं के प्रश्न को ही लें। गाँवों में रहनेवाले यह पाएँगे कि बहुत-से किसान खेतों में ज्यादा बीज डालते हैं। यदि ऐसे बीज का चुनाव किया जाय, जो जमने में अच्छा हो, जिससे स्वस्थ पौधे निकलें, जिसमें कीड़े आदि न लगें और साथ-साथ ही इस बीज के बोने के तरीके में ऐसे सुधार हों कि उसे खेतों में कम मात्रा में डालना पड़े, तो फिर कम बीज से ही काम चल सकता है। मशीनों से बीज बोने से बीज के बोने में सुधार हो सकता है। इसी तरह सिंचाई के साधनों पर विचार करते समय इसके पहले हमने बताया है कि किस प्रकार जो पानी खेतों में दिया जाता हैं उसमें से कुछ-न-कुछ बर्बाद हो जाता है। बहुत-सी जगह फसल के लिए छिड़ककर सिंचाई करना उपयुक्त होगा, लेकिन पुरानी लीक पर चलने के कारण अब भी क्यारी बनाकर सिंचाई की जाती है, जिसमें बहुत-सा

पानी बेकार चला जाता है । इसी तरह फसलों के काटने, उनकी दांवरी, ओसावनी आदि में भी बर्बादी होती है । समय से खेत की की कटाई न हो तो बहुत-सी बालियाँ जमीन पर गिर जाती हैं और दाने बिखर जाते हैं । बहुत-से किसान खेत को काटने के बाद बालियों को चुगते हैं, लेकिन फिर भी काफी अनाज बर्बाद चला जाता है ।

चूहे भी अनाज को बहुत नुकसान पहुंचाते हैं । कृषि-विज्ञान के विशेषज्ञों का अनुमान है कि ६ चूहे मिलकर एक आदमी की खुराक खा जाते हैं । यह भी अनुमान लगाया गया है कि पिछले पाँच साल में चूहों ने लगभग १० करोड़ टन अनाज खाया है जिसकी कीमत ६५ अरब से ७० अरब बैठती है । इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि सिर्फ इन चूहों से ही अनाज की रक्षा हो जाए तो खाद्य समस्या को हम बड़ी आसानी से हल कर लेंगे । इसी प्रकार हमारे देश में कृषि-उपज का कुछ हिस्सा पौधों की बीमारियों और दूसरे कीट-पतंगों के कारण भी बर्बाद हो जाता है । खेती की पैदावार को घास-पत्तियों से भी बचाना आवश्यक है । कृषि-प्रशासन के विशेषज्ञ डा० एम० एस० रन्धावा ने बताया है कि उत्तर प्रदेश और पंजाब के पूर्वी भागों में जिन क्षेत्रों में गेहूँ की फसल होती है, उसका २० प्रतिशत 'पोहली' नामक घास के कारण बर्बाद हो जाता है ।

सुधरे हुए भण्डारों की जरूरत

हमारे देश में खाद्यान्नों तथा अन्य खाद्य पदार्थों के ठीक ढंग से न रखने के कारण भी बर्बादी होती है । सिर्फ अनाज के उत्पादन करने से ही देश की अन्न-समस्या नहीं हल हो सकती जबतक जो कुछ पैदा किया जाता है उसके रखने की ठीक व्यवस्था न हो । अच्छे गोदाम, खत्तियों, बखारों आदि के न रहने के कारण अनाज में कीड़े, सीलन आदि लग जाते हैं और चूहे तो अनाज बर्बाद करते ही हैं । इन सबके आक्रमण से सिर्फ वजन में ही अनाज नहीं घटता है, बल्कि पौष्टिक तत्वों की भी हानि होती है । जिन जगहों पर वैज्ञानिक तरीकों से अनाज रखा जाता है वहाँ अन्न की बर्बादी एक प्रतिशत भी नहीं होती ।

यह सभी जानते हैं कि साग, सब्जी, मछली, अण्डे और मांस जल्दी खराब हो जाने वाले पदार्थ हैं और खास तौर पर भारत जैसे गरम देश में जल्दी ही सड़ने लगते हैं । मैसूर स्थित केन्द्रीय खाद्यान्न प्राविधिक शोध-संस्थान के निदेशक डाक्टर एच० ए० बी० पारपिया के अनुसार पैदा होनेवाले कुल फल का ४० प्रतिशत तो उपभोक्ता के पास पहुंचने के पहले ही नष्ट हो जाता है और इससे इसकी कीमत बढ़ जाती है । इसके अलावा अनाज तथा खाद्य पदार्थों को एक जगह

से दूसरी जगह भेजने में भी काफी बर्बादी होती है। यह बर्बादी पैकिंग की ठीक व्यवस्था न होने और गलत ढंग से इसे उठाने-रखने के कारण होती है। आपने गोदामों में जाकर देखा होगा कि बहुत-सा अनाज बोरियों से निकलकर बाहर गिरा रहता है। रेलवे स्टेशन पर माल गादामों में भी बोरियाँ या खाद्य पदार्थों के बक्स, टोकरियां आदि इस लापरवाही से उठाये और रखे जाते हैं कि काफी बर्बादी होती है।

अनाज के साफ करने के ढंग भी ऐसे हैं, जिनमें सुधार करने की ज़रूरत है। धान कूटने में चावल का बहुत-सा हिस्सा खुद्दी के रूप में निकल जाता है, कुछ बिल्कुल ही चूरा हो जाता है। अनुमान है कि यदि अनाज की सफाई, कुटाई तथा पिसाई के तरीकों में सुधार किया जाए तो ४ से ५ प्रतिशत तक अधिक पैदावार हो सकती है। धान की कुटाई के बाद चूरा निकलता है, जिसे अंग्रेजी में ब्रैन कहते हैं। यह चावल का अत्यन्त उपयोगी भाग है। इससे तेल भी निकाला जा सकता है, जो बहुत ज्यादा कीमत पर विदेशों में भेजा जा सकता है; लेकिन कितने लोग ऐसे हैं, जो इसे संचित कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि इसको इकट्ठा करने की न तो कोई सुविधा है और न ही इससे कुछ तैयार करने के कारखाने। खाद्यान्नों की बर्बादी को रोकने के लिए जरूरी है कि ग्रामीण क्षेत्रों में और कस्बों में, विशेषरूप से अनाज की मण्डियों में अच्छे भण्डार बनाए जाएँ। अनुमान है कि कुल अनाज, जो पैदा होता है, उसका ७० प्रतिशत गाँवों में ही उपयोग में आ जाता है और ३० प्रतिशत नगरों में जाता है। इसमें लगभग ५ से १० प्रतिशत ठीक ढंग से एक स्थान से दूसरे स्थान तक न ले जाने और खराब गोदामों, खत्तियों, बखारों में रखने के कारण नष्ट हो जाता है। विभिन्न संस्थाओं, सहकारी समितियों और सरकार ने कुछ छोटे गोदाम बनाए हैं, लेकिन जितने बड़े पैमाने पर अन्न का संचय करना पड़ता है उतने गोदाम अभी नहीं हैं। गाँवों में जो खत्तियाँ और बखारे हैं, वे अपर्याप्त हैं और हवा, पानी तथा मौसम के विपरीत प्रभाव को बर्दाश्त करने की क्षमता भी उनमें नहीं है।

इण्डियन स्टैन्डर्ड इन्स्टिच्यूशन (आई० एस० आई०) ने छोटे गोदाम या बखारों के बनाने के बारे में कुछ उपयोगी सुझाव दिये हैं, जिनमें यह बतलाया गया है कि वे गोदाम या बखारें किन स्थानों पर बनाई जाएँ, उनका आकार क्या हो और उनमें किस तरह के मैटीरियल इस्तेमाल किये जाएँ। इसके अलावा यह भी बताया गया है कि उनको हवा, पानी और चूहों आदि से बचाने के लिए क्या किया जाए। बड़े या मध्यम किस्म के किसान इन सुझावों के अनुसार अपने बखारों को बना सकते हैं, लेकिन छोटे किसान ऐसा नहीं कर पाएँगे। पहले तो उनके

पास बहुत ज़्यादा अनाज संचित करने के लिए बचता ही नहीं और दूसरे इनकी लागत इतनी होगी कि वे इनका खर्च नहीं बर्दाश्त कर सकते। सेंट्रल वेयर हाउसिंग कारपोरेशन और सहकारी समितियों को ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ ऐसे गोदाम बनाने चाहिए जिनमें साधारण किसान अपने गल्ले को रख सकते हों। खाद्यान्न को ठीक ढंग से रखने के बारे में किसान को ठीक राय-मशविरा देने के लिए टैक्निकल लोगों को और विशेषज्ञों को गाँवों में समय-समय पर भेजना चाहिए।

हमारे देश में खाद्यान्न को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए बैलगाड़ी, ट्रक और रेल के माल डिब्बों का इस्तेमाल होता है। विदेशों में इस तरह के समान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने के लिए खास तरह के रेल के डिब्बों और ट्रकों या गाड़ियों को डिज़ाइन किया गया है जिससे बर्बादी बिलकुल नहीं होती, या होती है तो एक प्रतिशत से भी कम रहती है। अक्सर समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिलता है कि रेलवे स्टेशन पर गल्ले को ठीक ढंग से न रखने के कारण या समय से उनको गंतव्य स्थान पर न भेजने के कारण वर्षा, धूप या हवा के कारण काफी खाद्य पदार्थ नष्ट हो गया। यातायात विभागों, विशेषतः रेल महकमे में इस सिलसिले में जो शिकायतें आती हैं उनका ठीक ढंग से अध्ययन और विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि इन सामानों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में बरती गई असावधानी के कारण नुकसान हुआ है।

खाद्य पदार्थों की तरह-तरह की बर्बादी को रोकने के लिए जहाँ सुविधाओं को बढ़ाने की जरूरत है, वहीं हर आदमी में इस भावना के पैदा करने की भी जरूरत है कि अनाज या खाद्य पदार्थ का अदना-से-अदना हिस्सा भी बर्बाद नहीं होना चाहिए। सम्भवतः यही कारण था कि ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत पहले से यह कहा जाता रहा है कि जो अनाज को बर्बाद करता है, उसे अगले जन्म में आँख की बरौनियों से बर्बाद किये गए दानों को चुगना पड़ता है। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि अन्य कहावतों की तरह ही यह बात भी एक कहावत रह गई है और हमने इससे सबक नहीं लिया है। यह सन्तोष की बात है कि सरकार इस सम्बन्ध में अब ध्यान देने लगी है। हाल ही में खाद्य मंत्रालय द्वारा भारतीय खाद्य निगम और ऐसे दूसरे संगठनों को इस बारे में अधिक सतर्कता बरतने का निर्देश दिया गया है, लेकिन जबतक ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर इसके लिए कोशिश न की जाय तबतक इस दिशा में सफलता पाना कठिन है।

इधर खाद्य पदार्थों के परिरक्षण में जो सबसे नये अनुसन्धान हुए हैं उनका भी लाभ उठाना चाहिए। यह तरीका है परमाणु ऊर्जा की सहायता से खाद्य का परिरक्षण करना। इस तरीके में खाद्य पदार्थों को परमाणु विकिरण की

एक नपी-तुली खुराक देकर उसे सूक्ष्माणु, रोगाणु और कीटाणु से मुक्त कर दिया जाता है। परमाणु भिगोई तरकारियाँ काफी समय तक रखी जा सकती हैं। आलू और प्याज दो-दो साल तक रखे जा सकते हैं। इसी तरह विकिरण द्वारा परिरक्षित मांस को बिना वातानुकूलन के वर्षों तक रखा जा सकता है। खाद्य-परिरक्षण के के ये तरीके अभी बहुत मँहगे हैं, लेकिन भोजन नष्ट होने से बचाने के नए तरीकों में यह एक नया मोड़ है और इसे किस प्रकार कम व्यय में अमल में लाया जा सकता है, इसपर विशेष रूप से विशेषज्ञों को विचार करना चाहिए।

: ५ :

कृषि-उत्पादकता और उद्योग

अब पहले की अपेक्षा यह बात अधिक गम्भीरता से महसूस की जाने लगी है कि कृषि और उद्योग दोनों का ही साथ-साथ विकास होना चाहिए, क्योंकि दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। एक की उन्नति और दूसरे का पिछड़ापन देश के आर्थिक जीवन के सन्तुलन को बिगाड़ देगा। आज का युग औद्योगिक युग कहा जाता है और कृषि को भी उद्योगों की तरह ही संगठित करने पर जोर दिया जाता है। अमेरिका, जापान, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि देशों में, जहां खेती में काफी तरक्की हुई है, औद्योगिक विकास भी तेजी से हुआ है और उद्योगों ने कृषि के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि अनेक उद्योग कृषि के क्षेत्र से ही अपने लिए कच्चा माल प्राप्त करते हैं। भारत में भी यदि हम कृषि-उत्पादकता बढ़ाना चाहते हैं तो उद्योगों की पूरी सहायता लेनी होगी और जो कुशलता उत्पादकता बढ़ाने के लिए औद्योगिक क्षेत्रों में जरूरी है, उसे कृषि के क्षेत्र में भी हासिल करना होगा।

हमारे देश में कृषि-पैदावार न बढ़ने का मुख्य कारण यह रहा है कि कृषि की मदद करनेवाले उद्योगों का पूर्ण विकास अभी नहीं हो सका है। बिजली, रासायनिक खाद, कीटनाशक, कृषि-यंत्र, लोहा, पैदावार को ढोने के लिए अच्छी यातायात-व्यवस्था, हाट-व्यवस्था, संचार-सुविधाएँ, आदि कृषि की तमाम आवश्यकताएँ औद्योगिक क्षेत्रों से ही पूरी होती है और इनका विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दूसरी ओर कृषि पर निर्भर उद्योग जैसे चीनी के कारखाने, जूट मिल, सूती कपड़ों के कारखाने आदि कच्चे माल के लिए कृषि पर निर्भर करते हैं। इन उद्योगों की उत्पादकता भी बहुत-कुछ इस पर निर्भर करती है कि कृषि के क्षेत्र से उन्हें किस तरह का कच्चा माल और कितनी कीमत पर प्राप्त होता है। आज भी भारत में बहुत अच्छे किस्म के कपड़े बनाने के लिए जिस मुलायम और लम्बे रेशे के कपास की आवश्यकता है, वह उपलब्ध नहीं है और इसका आयात विदेशों से किया जाता है। इसी तरह जूट मिलों को भी बराबर यह शिकायत रहती है कि उन्हें अच्छे किस्म का कच्चा माल नहीं मिलता। इधर मौसम खराब

होने के कारण पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल मिल भी नहीं रहा है और इसका विदेशों से आयात करना पड़ रहा है।

देश के आयोजकों ने भी यह अनुभव किया है कि कृषि-क्षेत्र में असफलता का मुख्य कारण उर्वरक, कीटनाशकों, छोटे औजारों आदि साधनों का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न रहना है। इस विषय में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न कृषि में मशीन के प्रयोग को बढ़ाने से सम्बन्धित है। अक्सर यह कहा जाता कि कृषि के यंत्रीकरण से ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी बढ़ेगी। इस बेरोजगारी को दूर करने का एकमात्र तरीका यही है कि ग्रामीण क्षेत्रों में जैसी जहाँ की परिस्थिति है, उसे ध्यान में रखते हुए छोटे और बड़े उद्योग खोले जाएँ। ये उद्योग स्थानीय आवश्यकताओं और वहां होने वाले कच्चे माल को ध्यान में रखकर विकसित किये जा सकते हैं। इससे यह लाभ होगा कि भूमि पर पड़नेवाला बोझ कम होगा और जो लोग खेती में काम कर रहे हैं उनकी कुशलता में वृद्धि होगी। कृषि-उपज की सफाई (प्रोसेसिंग) तथा कुटाई और पिसाई के मिलों, कृषि-यंत्रों की मरम्मत के लिए वर्कशाप आदि उद्योग विकेन्द्रित आधार पर खोले जा सकते हैं। कृषि के लिए आवश्यक यंत्र, जैसे पम्पिंग सेट, पावर टिलर, छोटे और बड़े ट्रैक्टर आदि की बराबर कमी रहती है। जहाँ एक ओर इनको पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराने की समस्या है, वहीं दूसरी ओर इनकी कीमत को भी कम करने की जरूरत है, ताकि साधारण किसान इनका लाभ उठा सकें। उद्योगों को इस जिम्मेदारी को निभाना होगा।

लेकिन इन समस्याओं से सम्बन्धित कई व्यावहारिक बातों पर भी हमारा ध्यान जाता है। इनमें सबसे मुख्य बात किसानों को नये तरीकों से खेती करने के लिए प्रेरित करने की है, ताकि उत्पादकता बढ़े। किसानों को प्रेरित करने के प्रश्न पर हमने अलग से विचार किया है, लेकिन यहाँ इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस दिशा में उद्योगों को भी महत्वपूर्ण योगदान देना है। औद्योगिक क्षेत्र कृषि के मुकाबले में काफी संगठित क्षेत्र हैं। इसमें काम करनेवाले प्रबन्धक उत्पादकता की विधियों से पहले से ही अवगत हैं। यदि उद्योग, विशेषतः कृषि पर निर्भर करनेवाले उद्योग, पर्याप्त मात्रा में और कम कीमत पर और अच्छी किस्म का कच्चा माल चाहते हैं, तो उन्हें उसी तरह कृषकों की मदद के लिए आगे आना चाहिए जिस तरह हिन्दुस्तान लीवर ने उत्तर प्रदेश के एटा जिले में तथा गाजियाबाद के नजदीक सैकड़ों किसानों को कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए सुविधाएं दी हैं, ताकि फैक्टरी को पर्याप्त मात्रा में और अच्छा कच्चा माल मिलता रहे। दूसरे उद्योग भी इस तरह के कदम उठा सकते हैं। कुछ उद्योगपतियों ने कृषि

के क्षेत्र में प्रवेश करने का यह अर्थ लिया है कि उन्हें बड़े फार्म खोलने की इजाजत दी जाय। अबतक भारत सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया है। इसके पीछे सामाजिक और सरकार के राजनैतिक आदर्श हैं। ऐसी स्थिति में उद्योगों को बजाय खेती के काम को अपने हाथ में लेने के, उसे किसानों के हाथों रहते हुए ही मजबूत बनाने की दिशा में सहयोग करना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित कदम उठाने होंगे :

१. जिन क्षेत्रों से वे कच्चा माल लेते हैं उन क्षेत्रों में खेती के नये तरीकों का वे प्रचार करें।
२. ऐसे उद्योग जो कृषि के साधनों की पूर्ति करते हैं, जैसे उर्वरक, कीड़े मारनेवाली और पौधों की बीमारियों को रोकथाम की दवाइयां, कृषि-यंत्र आदि बनाने वाले उद्योग ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों को बताएं कि कैसे उनके द्वारा बनाये गए सामानों का भरपूर और उचित उपयोग किया जा सकता है। यदि आवश्यक हो तो इसके लिए कृषकों को ट्रेनिंग की भी व्यवस्था करें।
३. इन साधनों को कम लागत पर और पर्याप्त मात्रा में पैदा करें।
४. कच्चे माल की क्रय-विक्रय की व्यवस्था में सुधार करें।
५. जिन क्षेत्रों से ये उद्योग कच्चा माल प्राप्त करते हैं वहां किसानों को ऋण-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करें।
६. जूट, कपास, तिलहन, तम्बाकू आदि पर निर्भर उद्योग किसानों को उन्नत किस्म के बीज देने का विशेष अभियान चलाएँ। अब तक अच्छे बीज की व्यवस्था केवल सरकारी विभाग ही करते हैं, लेकिन यदि उद्योग भी इसमें हाथ बटाएँ तो इस दिशा में विशेष प्रगति हो सकती है।
७. इस तरह के जिन-जिन उद्योगों के पास खेती की भूमि है, वे उनमें नये तरीकों से खेती करके किसानों के सामने उदाहरण रखें।

पहले कहा गया है कि देश के बहुत-से उद्योग कच्चे माल की कमी के कारण अपनी पूरी क्षमता के अनुसार काम नहीं कर पा रहे हैं। हम यह भी जानते हैं कि देश में खाद्यान्न की भी कमी है। अतः कृषकों की यह जिम्मेदारी है कि वे खाद्यान्न की पैदावार बढ़ाने के साथ ही कच्चे माल की पूर्ति भी करते रहें। लेकिन यह तभी सम्भव है जबकि किसान सघन खेती द्वारा कई फसलें पैदा करके कृषि-उत्पादकता बढ़ाएँ।

: ६ :

कृषि के दूसरे क्षेत्र

जैसा कि हमने पहले ही कहा है—कृषि एक अत्यंत व्यापक क्षेत्र है और खाद्यान्न तथा व्यापारिक फसलों की उत्पादकता के साथ ही कई ऐसे धंधे हैं जिनकी उत्पादकता का बढ़ना भी आवश्यक है। ये कार्य भी कृषि के दायरे में आते हैं और कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। वन और बाग़वानी को छोड़कर पशुपालन, डेयरी, मुर्गी-पालन, मांस-मछली का उत्पादन, आदि कुछ ऐसे धंधे हैं, जिनका सम्बन्ध जमीन से अधिक-से-अधिक पैदा करने से न होते हुए भी खेती के व्यवसाय से है और खेती में लगे लोगों के रहन-सहन पर इनका सीधा प्रभाव पड़ता है। अतः इन क्षेत्रों में भी उत्पादकता बढ़ाकर ही कृषि-उत्पादकता बढ़ाने का कोई कार्यक्रम पूरा हो सकता है। इन धंधों की उत्पादकता बढ़ाने के सम्बन्ध में यद्यपि विस्तार से यहां प्रकाश नहीं डाला गया है, लेकिन फिर भी संक्षेप में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार इनका प्रभाव कृषि-उत्पादकता पर पड़ता है और किस तरह इनकी उत्पादकता बढ़ाने के लिए कार्य करने की आवश्यकता है।

भोजन की समस्या पर ही अगर विचार करें तो हम देखेंगे कि हमारे देश में गल्ले की कमी बराबर बनी हुई है। खाने-पीने के तौर-तरीके कुछ ऐसे हैं कि हम अनाज का उपभोग ज्यादा करते हैं, लेकिन इससे हमें पौष्टिक भोजन नहीं मिलता है। संतुलित आहार की दृष्टि से दूध, दही, फल, मांस, सब्ज़ी आदि ऐसी चीज़ें हैं जिनका उपभोग बढ़ना चाहिए। दुर्भाग्य से एक तो हमारे खाने-पीने का तरीका ही कुछ ऐसा है कि इन चीज़ों का उपभोग कम होता है, लेकिन साथ ही ये चीज़ें इतनी मँहगी होती जा रही हैं और इनकी किस्मों में इस तरह की गिरावट आती जा रही है कि इनके उपभोग की ओर लोगों का झुकाव ही कम है या जो लोग इनको खरीदना भी चाहते हैं, वे भी आर्थिक कारणों से इन्हें खरीद नहीं पाते। ऐसी स्थिति में यह ज़रूरी है कि इन चीज़ों का उत्पादन बढ़ाया जाए और ये चीज़ें कम कीमत पर और अच्छी क्वालिटी की मिलें। अच्छा खाना मिलने पर ही किसान मेहनत कर सकेंगे और उनकी उत्पादकता बढ़ेगी। संतुलित आहार के अतिरिक्त इन धंधों को कृषकों को इसलिए भी अपनाना चाहिए कि इससे उन्हें

काफी आमदनी होगी और उनका रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा। अधिकांश किसानों के पास ज़मीन कम है और शिक्षा के बढ़ने के साथ उनकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाएँगी। ऐसी स्थिति में उन्हें ऐसे धंधों को शुरू करना होगा कि ज़मीन से अधिक पैदावार लेने के अलावा दूसरे ज़रियों से भी आमदनी हो। पशु-पालन, बाग़वानी आदि कृषि से सम्बद्ध ऐसे धंधे हैं जिनसे कृषक अपनी आर्थिक स्थिति शीघ्र मजबूत कर सकेंगे।

पशु-पालन और डेयरी

पशु-पालन पर ही पहले विचार करें। इसका महत्त्व हमारे देश में कई दृष्टि से है। दूध, दही, घी आदि तो दुधारू पशुओं से प्राप्त होते ही हैं, शक्ति के साधन के रूप में भी हमारे यहां पशुओं का ही अधिकतर इस्तेमाल होता है। हल चलाने, बोझा ढोने, सामान लाने ले जाने आदि के लिए पूरे देश में पशुओं से ही ज़्यादातर काम लिया जाता है। इसके अलावा इनसे चमड़ा, चरबी आदि भी प्राप्त होता है जिनपर बहुत-से धंधे निर्भर करते हैं। यदि हम चाहते हैं कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सुधार हो, खेती के लिए अच्छे पशु मिलें और किसानों को ज्यादा आमदनी हो, तो इसके लिए आवश्यक है कि हमारे देश के पशुओं की उत्पादकता भी बढ़े। यह तभी सम्भव है जब उन्नत नस्लों के पशु, अच्छे चारे, पशुओं की बीमारियों की रोकथाम और इस सम्बन्ध में जो सुविधाएँ दी जा रही हैं उनकी ओर अधिक ध्यान दिया जाए। हमारे देश में अधिकांश पशु बहुत ही कमज़ोर किस्म के दिखाई देंगे। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्हें अच्छा चारा और दाना नहीं दिया जाता। इसलिए यह जरूरी है कि हर किसान खेती के काम को इस तरह से संगठित करे कि वह पशुओं के लिए अच्छे चारे की व्यवस्था अपनी खेती से ही कर ले और ऐसा इस तरह करे कि अनाज की उसकी पैदावार भी कम न हो। सघन खेती द्वारा ही यह समस्या हल हो सकती है। अधिक गल्ला पैदा करने के लिए बौने पौधों के बीज बोने पर इधर विशेष जोर दिया गया है, लेकिन इससे चारे की जो कमी होगी उसकी ओर हमारा ध्यान अभी नहीं गया है। हमारे यहां कहां अच्छा चारा पैदा किया जा सकता है, इसका पता लगाकर हर गांव में चारा बोने के कार्यक्रमों को अधिक कारगर बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कृषि-विकास महकमों ने तथा अनुसंधान विभागों ने अच्छा काम किया है, लेकिन अभी इन्हें बहुत सीमित आधार पर ही अपनाया जा सका है। पशुओं की चिकित्सा की भी पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। इनकी देख-भाल के लिए जो स्टाकमेन सेन्टर (पशु-चिकित्सा केन्द्र) कायम किए गए हैं वे बिलकुल ही अपर्याप्त हैं।

इस सम्बन्ध में एक बुनियादी बात जिस पर हमें गौर करना है वह यह है कि कहीं भी पशुओं की उत्पादकता तभी बढ़ सकती है जब बेकारपशुओं को छांटते रहा जाए और जो सीमित साधन हैं, उन्हें अच्छे पशुओं पर ख़र्च किया जाए। इसके लिए पशुओं के वध करने की व्यवस्था को विकसित करने की ज़रूरत हो सकती है। कुछ हद तक धार्मिक कारणों से भी इस दिशा में पर्याप्त प्रगति नहीं हो सकी है। जनमत की अवहेलना करना किसी भी प्रजातंत्रीय व्यवस्था में सम्भव नहीं है और उचित भी नहीं है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से पशुपालन को लाभ-दायक धंधा बनाने के तरीकों को भी निकालना ज़रूरी है।

पशु-पालन के विकास तथा पशुओं की उत्पादकता बढ़ाने की दिशा में सबसे बड़ी बाधा मवेशियों को पौष्टिक और अच्छा चारा न देने की है। हमारे यहां अनाज की कमी है। अतः ज़मीन से ऐसी चीज़ें पैदा करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिससे अनाज के साथ ही चारा भी मिले। लेकिन यह योजना हर जगह के लिए ठीक नहीं कही जा सकती। कुछ क्षेत्र ऐसे हो सकते हैं जहां चारे को पैदा करने पर ही अधिक ध्यान दिया जा सकता है। इसके लिए ज़रूरी है कि गाँव या एक ब्लाक को युनिट न मानकर एक बड़े क्षेत्र को एक युनिट माना जाए और कुछ ऐसे क्षेत्र, जो चारा उगाने के लिए अधिक उपयुक्त हों, वहां चारा उगाने और उसके लिए दूसरे स्थानों पर भेजने की व्यवस्था की जाए। मैंने पर्वतीय क्षेत्रों में देखा है कि वहां जंगलों से चारा बहुत प्राप्त हो जाता है, अतः वहां के किसान गेहूँ की बालें ही खेतों से काटते हैं। डंठल को वे खेतों में जोत डालते हैं। इससे उन्हें कुछ खाद मिल जाती होगी, लेकिन काफी चारा नष्ट हो जाता है। रासायनिक खाद की मात्रा बढ़ाकर खाद की ज़रूरत पूरी हो सकती है और इस चारे को बचाया जा सकता है और इसे दूसरी जगहों पर भेजा जा सकता है। इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे क्षेत्रों में चारा पैदा ही नहीं होगा। सामान्य रूप से चारा हर जगह उतना ही पैदा होगा जितना अब पैदा होता है या उससे भी अधिक और अच्छे किस्म का पैदा हो, इसके लिए भी कोशिशें की जाएँ, लेकिन कुछ खास क्षेत्रों में चारा उगाने के काम को बड़े पैमाने पर करने की योजना को भी शुरू करना आवश्यक है। इसके लिए चारे को तैयार करके उसे परिरक्षित (प्रीज़र्व) करने के नए और वैज्ञानिक तरीकों को अपनाना होगा। हमारे यहां जिस तरह चारा रखा जाता है उसमें कुछ-न-कुछ खराब हो जाता है।

पशु-पालन से ही सम्बन्धित दूसरी समस्या दूध, घी, मक्खन, दही, मांस, अण्डे आदि की उत्पादकता बढ़ाने की है। यद्यपि ये काम हमारे यहाँ हजारों वर्षों से हो रहे हैं, लेकिन फिर भी इनका विकास बड़े पैमाने पर और नए तरीकों से अभी

नहीं हो सका है। इधर थोड़ी-बहुत कोशिश हो रही है, लेकिन देश में जितनी इनकी मांग हो सकती है, उस हिसाब से प्रयत्न नहीं हुआ है। मुर्गी-पालन को ही लें। लोगों का ध्यान तो इस ओर गया है, लेकिन सफल मुर्गी-पालक अभी बहुत कम हैं। मुर्गियों से अधिक-से-अधिक अन्डे कैसे लिए जाएँ, इसकी जानकारी बहुत कम लोगों को है। धार्मिक कारणों से तो इस पेशे को अपनाने से लोग हिचकिचाते ही हैं, मुर्गियों की बीमारियों से होनेवाले नुकसान के कारण भी बहुत-से लोग इस धंधे की ओर आकृष्ट नहीं हुए हैं। फिर लोगों के पास मकान ऐसे हैं जिनमें स्वयं रहने की जगह ही कम होती है, मुर्गी-पालन की तबालत कौन उठाए। मुर्गी-पालन के विकास के लिए ऐसे लोगों को प्रोत्साहित करने की ज़रूरत है, जो वैज्ञा-निक तरीकों तथा व्यावसायिक रूप से इसे विकसित करें।

डेयरी का काम भी हमारे देश में काफी अव्यवस्थित है। यदि देखा जाए तो बहुत-सी डेयरी लाभ कमाने की स्थिति में सिर्फ इसीलिए हैं कि उनमें मिलावट का काम जोरों पर है। लेकिन यह कबतक चल सकेगा। इससे चीजों की किस्म में कभी भी सुधार नहीं होगा। डेयरी का काम छोटे पैमाने पर बहुत बिखरा हुआ है। दूध, दही, मक्खन बेचने वाले यदि सहकारी आधार पर काम करें, तो उन्हें हर तरह से लाभ होगा। ऐसी स्थिति में उन्हें नए तरीकों से काम करने वाली मशीनों के लगाने और ऐसे दूसरे कामों के लिए पूँजी मिल जाएगी और वे बड़े पैमाने पर चलने वाले व्यवसाय के लाभ भी उठा सकेंगे। हमने देखा है कि पुश्तैनी आधार पर दूध-घी का काम करने वाले तो इस व्यवसाय को चला रहे हैं, लेकिन नए लोग बहुत कम सफलता पा सके हैं। बहुतों ने सरकार से डेयरी या पशुपालन के लिए तकावी या कर्ज लिया है, लेकिन उनमें से कम ही आगे बढ़ सके हैं। इस दिशा में प्रगति न होने के मार्ग में एक खास दिक्कत तो यही है कि दूध, घी, मक्खन आदि को परिरक्षित (प्रीज़र्व) करने की पूरी सुविधाएँ नहीं हैं। जब बड़े पैमाने पर इन कामों को किया जाता है और किसी खास समय में इनकी मांग के कम रहने से दूध को चूरा या दूसरे रूप में प्रीजर्व करने की सुविधा नहीं होती, उस समय भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। साथ ही, इन चीजों की किस्म के मानकीकरण की भी आवश्यकता है। सरकारी विभागों की सील लगी रहने के बाद भी लोगों को यह विश्वास नहीं रहता कि ये सब चीजें बिना मिलावट के होंगी। यदि इनका परीक्षण ठीक-ठीक हो और उसके किस्म में सुधार हो तो उप-भोक्ता का विश्वास जम सकेगा और इनकी मांग भी बढ़ेगी।

पर्वतीय क्षेत्रों में जहां, चरागाह ज़्यादा हैं, वहां डेयरी विकसित करने की काफी गुंजाइश है, लेकिन इस तरफ बहुत ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसे क्षेत्रों को

मिलाने वाली सड़कों पर परिवहन-व्यवस्था में सुधार की जरूरत है। अनुमान है कि इन क्षेत्रों में डेयरी की चीज़ों को तैयार करने की लागत काफी कम होगी, क्योंकि यहाँ पशुओं को चराने की सुविधा भी रहेगी और दूसरी तरह के चारे थोड़ी मात्रा में भी देकर दुधारू पशुओं से अधिक दूध लिया जा सकेगा। यह बड़े दुःख की बात है कि इन पर्वतीय क्षेत्रों में दूध देनेवाले पशुओं की संख्या तो सबसे अधिक है, लेकिन उनकी दूध देने की क्षमता बहुत कम है।

ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रों में पशुपालन का काम बहुत पहले से होता आ रहा है; खास तौर से ऊन पैदा करने के लिए भेड़ पालने का काम तो उत्तर के सभी पर्वतीय क्षेत्रों में होता है, लेकिन देशी भेड़ें अधिक होने के कारण इनसे ऊन कम और घटिया किस्म का निकलता है। सरकार तकावी या ऋण में अच्छी नस्ल की भेड़ें देकर इसमें सुधार करने की कई योजनाओं को चला रही है, लेकिन अभी अधिकांश भेड़-पालक ज्यादा संख्या में देशी भेड़ें ही पालते हैं। इसका कारण यह है कि उन्नत नस्ल की भेड़ें कम मिलती हैं। उन्हें बीमारियों से बचाने की सुविधाएँ भी कम हैं। अतः इस धंधे को उत्पादक बनाने के लिए पूरे उत्साह से काम करने की ज़रूरत है। देश में बहुत-सा ऊन बाहर से मंगाना पड़ता है। अगर इस धंधे का विकास करना है, तो हमें देश में ही अच्छे ऊन के विकास की योजना को कारगर ढंग से अमल में लाना होगा। ऐसा कहना तो शायद अभी दूर की सोचने जैसी बात हो कि भारत शीघ्र दूसरे देशों में ऊन का निर्यात बड़े पैमाने पर कर सकेगा, लेकिन यदि देश की ही ज़रूरत का अच्छा ऊन यहां मिलने लगे तो भी यह बहुत बड़ी सफलता होगी।

बाग़वानी

पशुपालन के बाद जिस दूसरे धंधे को उत्पादक बनाने की आवश्यकता है वह है बाग़वानी। भूमि-सुधार की चर्चा करते समय हमने पहले बताया है कि भारत में यदि भूमि का वर्गीकरण किया जाय तो काफी ऐसी ज़मीन निकलेगी जहां खेती हो रही है, लेकिन वह लाभदायक नहीं है। ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों, में जहां ६-७ हजार फुट की ऊँचाई पर खेती का काम होता है, वहां खेती उतनी लाभदायक नहीं है जितनी बाग़वानी या पशुपालन। इन क्षेत्रों में बहुत बड़े-बड़े खित्ते ऐसे पड़े हैं जिनमें बाग़वानी का तेजी से विकास किया जा सकता है। अतः इस दिशा में भी दो प्रकार के कार्यक्रम बनाने की ज़रूरत है। पहला कार्यक्रम क्षेत्रीय आधार पर बन सकता है अर्थात् ऐसे पूरे क्षेत्र में बाग़वानी के काम को बढ़ाना जिसमें अभी इस काम को बढ़ाया नहीं जा सका है। पर्वतीय

क्षेत्रों में बाग़वानी के विकास के लिए राज्य सरकारें पहले से ही योजनाएं चला रही हैं और इसमें सीमित आधार पर सफलता भी मिली है, लेकिन अभी ऐसे बहुत-से क्षेत्र हैं जहां इस योजना के प्रसार की गुंजाइश है। इन क्षेत्रों में सड़कों का निर्माण तेजी से हो रहा है। इससे बाग़वानी के लिए बहुत बड़ी सुविधा हो जाएगी। बाग़वानी का दूसरा कार्यक्रम क्षेत्रीय आधार पर न होकर व्यक्तिगत आधार पर विकसित करने का हो सकता है अर्थात् अधिकांश कृषक बाग़वानी को अपनाएं और इसे उत्पादक बनाएं। बाग़वानी का काम फलों के उत्पादन तथा सब्जी पैदा करने, दोनों ही क्षेत्रों में बढ़ना चाहिए। इससे कृषकों को पौष्टिक भोजन मिलेगा और उन्हें आमदनी भी होगी। बहुत-सी ज़मीन, जो बेकार पड़ी रह जाती है, उसमें इस काम को बड़ी आसानी से किया जा सकता है। गांवों में ही नहीं, औद्योगिक क्षेत्रों और शहरों में भी सिर्फ लान रखने या खाली जगहों को रखने के शौक के नाम पर बहुत-सी जमीनें बेकार पड़ी रहती हैं। औद्योगिक क्षेत्रों में साग-सब्जी बहुत मंहगी मिलती है। उन्हीं जगहों पर यह देखने को मिलता है कि कारखाने के विकास के नाम पर सैकड़ों एकड़ जमीन बेकार पड़ी रहती है। भिलाई स्टील कारखाने में ऐसी बेकार ज़मीन को इस्तेमाल में लाने के लिए सहकारी समितियां बना दी गई हैं और इनमें खेती का काम शुरू हो गया है। अन्य जगहों पर भी सिंचाई की व्यवस्था करके सब्जी, फल आदि पैदा करने की योजना शुरू की जा सकती है।

बाग़वानी के विकास के लिए सरकार ऋण दे रही है और आधुनिक तरीके की मशीनें आदि भी उपलब्ध करा रही है। खास तौर से पौध-संरक्षण की नई विधियों को अपनाने पर जोर दिया जा रहा है और इस काम को आगे बढ़ाने की कोशिश हो रही है, लेकिन फिर भी कुछ क्षेत्रों तथा कुछ किसानों को छोड़कर अधिकांश किसान अभी इस तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं। बाग़वानी में देखभाल की बड़ी जरूरत होती है, अतः बहुत-से किसान इससे भागते हैं। फिर पर्वतीय क्षेत्रों में, जहां सेव, माल्टा आदि पैदा होते हैं, उनका अभी नियंत्रित बाजारों से पूरा सम्पर्क नहीं हो सका है। बरसात में रास्ते बन्द होने पर काफी फल खराब होने लगते हैं। इन स्थानों पर इनके परिरक्षित करने या उनसे दूसरी चीजें बनाने की इतनी सुविधा नहीं है कि इस तरह जो नुकसान होता है, उसे बचाया जा सके। घटिया किस्म के फलों से जाम, जेली, अचार आदि बनाए जा सकते हैं, लेकिन इसके लिए अभी पर्याप्त सुविधा नहीं है।

साग-सब्ज़ी भी हमारे यहां काफी महंगी मिलती हैं। बड़े शहरों में तो ये चीजें बहुत ही महंगी होती जा रही हैं। अगर महंगाई के कारण इन चीजों को

पैदा करनेवालों को पूरा लाभ हो तो भी यह सन्तोष की बात होगी कि अधिक लोग इस काम को करने में रुचि लेंगे, लेकिन दुर्भाग्य यह है कि उत्पादक भी लाभ नहीं उठा पाते। दिल्ली के आसपास सब्जियों के बाजार के सर्वे के लिए राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद द्वारा संगठित एक दल ने अपनी रिपोर्ट में आंकड़े देकर यह बताया है कि उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच जो लोग थोक तथा खुदरा व्यापार कर रहे हैं, वे कीमतों का अधिक भाग हड़प जाते हैं। संगठित बाजार न होने तथा तरह-तरह के गलत तरीकों को वर्षों से अपनाकर और उसे अब बाजार के नियम करार देकर ये बिचौलिए उत्पादक और उपभोक्ता दोनों का शोषण करते हैं। सहकारी समितियां बनाकर ही साग-सब्ज़ी पैदा करने वाले इन बिचौलियों से बच सकते हैं। अहमदाबाद के आस-पास १९४७-४८ में इसी तरह की समस्या उत्पादकों के सामने थी। उस समय वहां के उत्पादकों ने सहकारी आन्दोलन शुरू करके अपनी कठिनाइयों को हल किया था। अब वहां सब्जी पैदा करने में सहायता देने से लेकर बेचने तक की सारी व्यवस्था मार्केट कमेटी के हाथों में है।

बाग़वानी के कार्य को विकसित करने के लिए उसे वैज्ञानिक आधार पर संगठित करने की भी आवश्यकता है। इसके लिए प्रशिक्षित मालियों और उत्पादकों की आवश्यकता होगी, लेकिन इनकी काफी कमी है। चौथी योजना के दौरान दस हजार व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने का प्रस्ताव है। इसके अतिरिक्त सरकार आदर्श बागों के विकास की योजना को भी चालू करेगी, ताकि अधिकाधिक क्षेत्रों में जाकर कृषक देख सकें कि बागवानी का काम कैसे वैज्ञानिक आधार पर संगठित किया जा सकता है। प्रगतिशील कृषकों की भी आदर्श बागों को लगाने में सहायता देने की योजना है। जो कृषक पर्वतीय क्षेत्रों में १०० से २०० एकड़ और मैदानों में २०० एकड़ का बाग या नर्सरी लगाएंगे उन्हें सरकारी सहायता बड़े पैमाने पर प्राप्त हो सकेगी। साथ ही चौथी योजना के दौरान सब्जियों के उत्पादन को वर्तमान उत्पादन से दुगुना करने का लक्ष्य रखा गया है अर्थात् योजना के आखिरी साल तक १०२ लाख टन सब्जी पैदा करने का लक्ष्य है। किसान सब्जीउत्पादन में अधिक रुचि लें, इसके लिए प्रदर्शन फार्मों को खोलने का कार्यक्रम तैयार किया जा रहा है। इसके लिए ऋण भी दिए जाएंगे। अनुमान है कि अगर प्याज़ का उत्पादन बढ़े तो उसे काफी मात्रा में बाहर भेजकर विदेशी मुद्रा कमाई जा सकती है। मौसम में साग-सब्जी अधिक पैदा होने पर उन्हें साफ करने, सुखाने और रखने के लिए भी कुछ प्रोजेक्ट चालू किये जाएंगे। किसानों को अधिक उन्नत बीज देने का भी कार्यक्रम है। निश्चय ही ये कार्यक्रम बड़े अच्छे हैं, लेकिन इनकी सफलता तभी है जब इन्हें ठीक ढंग से लागू भी किया जाए।

वन-विकास

आबादी के बढ़ते रहने के कारण हमारे देश में वन-सम्पदा धीरे-धीरे कम होती गई। अनाज को पैदा करने के लिए हम जंगलों को काटते गए। ब्रिटिश हुकूमत के शुरू होने के समय भारत में काफी वन-सम्पदा थी, लेकिन धीरे-धीरे इन्हें लोगों ने काटना शुरू कर दिया। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने लगी कि जलाने के ईंधन, कोयला, औद्योगिक कार्यों के लिए लकड़ी आदि की कमी होने लगी और १९६३ के बाद सरकार ने यह महसूस किया कि वनों के विकास की कोई योजना होनी चाहिए और फिर इस दिशा में कदम उठाए गए। सरकार ने अपने कन्ट्रोल में रहने वाले वनों के विकास के लिए योजनाएं बनाईं और कर्मचारी आदि नियुक्त किए, लेकिन अन्य क्षेत्रों में वनों की रक्षा और विकास की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। नतीजा यह है कि देश की कुल जमीन में सिर्फ ७ करोड़ ३० लाख हेक्टर भूमि में वन हैं। विश्व में प्रति व्यक्ति वन का सबसे कम क्षेत्र भारत में है, जो ०.२ हेक्टर है। कुल जमीन का जो भाग वनों के अन्तर्गत है वह भी भारत में सबसे कम है। जहां भारत में २१.८ प्रतिशत क्षेत्र में वन हैं वहां जापान में ६८ प्रतिशत और स्वेडन में ५० प्रतिशत में वन हैं। जो वन हैं भी उनकी उत्पादकता बहुत कम है। जहां भारतीय वनों की उत्पादन-क्षमता एक साल में ३ क्यूविक फुट प्रति एकड़ है वहां फ्रांस में ५७ क्यूविक फुट और जापान में ३७ क्यूविक फुट तक है।

संरक्षण और उत्पादन दोनों दृष्टियों से ही वन बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। जहां वे भूमि के कटाव को रोकने तथा अधिक और निश्चित वर्षा की दृष्टि से आवश्यक हैं, वहीं इनसे उद्योग-धंधों के लिए कीमती लकड़ियां प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त जलाने की लकड़ी, लकड़ी का कोयला, बांस, बेंत, लीसा (रेज़िन, जिससे ताड़पीन या टरपाइन बनता है), रबड़, मसाले, जड़ी-बूटियां आदि वनों से ही प्राप्त होते हैं। कागज़-उद्योग तो इसी पर निर्भर ही करता है। ऐसी स्थिति में वनों का देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से बहुत महत्व है। लेकिन ऐसा होते हुए भी हमने अपने वनों की उत्पादकता बढ़ाने की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है।

आज भी बहुत-से लोग यह समझते हैं कि यदि वनों के अंतर्गत अधिक भूमि ली जाएगी तो इससे अनाज या व्यापारिक फसलों को पैदा करने के लिए पर्याप्त भूमि नहीं रहेगी, लेकिन बात ठीक इसके विपरीत है। वनों की वृद्धि अव्वल तो उतनी हो नहीं सकती कि खेती के लिए जमीन न रहे। फिर वनों के कम होने या कुछ क्षेत्रों में न होने के कारण ही भूमि का कटाव हो रहा है और रेगिस्तान का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। वस्तुतः वनों के विकास और उनकी

उत्पादकता बढ़ने से जहां एक ओर खेती के लिए अधिक और निश्चित वर्षा की सम्भावना बढ़ेगी, वहीं दूसरी ओर औद्योगिक विकास के लिए भी मजबूत आधार तैयार होगा।

आज तो आवश्यकता इस बात की है कि बेकार या बहुत कम पैदावार देनेवाली भूमि में वन लगाने के अतिरिक्त खेतों की मेड़ों पर भी इक्के-दुक्के पेड़ लगाए जाएं। इससे भूमि का बेहतर उपयोग भी होगा और ग्रामीण क्षेत्रों में लकड़ी की मांग की पूर्ति भी होगी। कृषि-विकास की नई नीति में वनों तथा बागानों के अन्दर भूमि को इस तरह लाने की व्यवस्था होनी चाहिए कि समूचे देश में वनों का सन्तुलित विकास हो। आज ऐसी स्थिति है कि कहीं जंगल या वृक्ष अधिक हैं, तो कहीं हैं ही नहीं।

वनों की उत्पादकता बढ़ाने के दूसरे उपायों में अच्छे किस्म के वृक्षारोपण और इस कार्य में होनेवाली बर्बादी पर नियंत्रण करना भी आवश्यक है। वृक्षों के तैयार होने के बाद उनको काटने का काम ठेकेदारों को दिया जाता है। उस समय जिन तरीकों से इन्हें काटा जाता है, उससे काफी लकड़ी बर्बाद होती है। यह भी देखा गया है कि जहां कटाई, चिराई, ढुलाई के काम मशीनों से हो रहे हैं वहाँ बर्बादी का अंश कम होता है। इसी तरह आग लगने, पशुओं के चराने, पौधों की बीमारियों आदि से भी बर्बादी होती है। इन पर नियंत्रण पाने के लिए नये वैज्ञानिक तरीकों को अपनाने पर जोर देना होगा। इन तरीकों के बारे में ट्रेनिंग देने के लिए इस समय देहरादून में जो इंडियन फारेस्ट कालेज है वह देश की एकमात्र संस्था है और वह पूरे देश में जितने प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता है, उतने लोगों को ट्रेनिंग देने में असमर्थ है। वनों की बेहतर देख-भाल के लिए यातायात एवं परिवहन-व्यवस्था में भी सुधार करने की जरूरत है।

: ७ :

कुशल प्रबन्ध-व्यवस्था तथा कृषि-उत्पादकता

कृषि के क्षेत्र में उत्पादकता के विचार को लागू करने का प्रश्न बहुत हद तक उचित प्रबन्ध-व्यवस्था के विकास का प्रश्न है। जिस प्रकार कुशल और वैज्ञानिक प्रबन्ध की सहायता से उद्योगों को संगठित किया जाता है और उनकी उत्पादकता बढ़ाई जाती है, उसी तरह कृषि को भी लाभप्रद धन्धा बनाने के लिए कुशल प्रबन्ध-व्यवस्था की सबसे अधिक आवश्यकता है। हमने कई जगह पर पहले भी इस पहलू पर जोर दिया है कि उत्पादकता बढ़ाने का मतलब साधनों का इस प्रकार उपयोग करना है कि उनकी बर्बादी न हो और उनसे अच्छे-से-अच्छे नतीजे हासिल हों। इसके लिए जरूरी है कि खेती की सभी क्रियाओं जैसे साधनों के चुनाव, वितरण एवं इस्तेमाल, उपज के वितरण, उसे बाज़ार में बेचने, उसके परिरक्षण इन सभी बातों की व्यवस्था में बराबर सुधार हो, जो कुशल प्रबन्ध-व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है।

यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ाने के लिए कुशल प्रबन्ध का कार्य उतना कठिन नहीं है जितना कृषि के क्षेत्र में। इसका कारण यह है कि उद्योगों में साधनों तथा उत्पादन-विधियों पर अधिक नियंत्रण रहता है और मनुष्य अपनी योजना के अनुसार अधिक आसानी से परिवर्तन कर सकता है जबकि कृषि में कई ऐसी बातें हैं, जो मानव-नियंत्रण के बाहर हैं। उदाहरण के लिए कृषि के मौसम पर निर्भर रहने की बात को ही लें। सबकुछ ठीक-ठीक होता रहे, लेकिन अगर मौसम बिल्कुल ही विपरीत हो जाए, तो फिर प्रबन्ध की सारी कुशलता के सामने एक प्रश्न-चिह्न उपस्थित हो जाएगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि कृषि में इस अनिश्चितता के कारण कुशल प्रबन्ध-व्यवस्था का विकास हो ही नहीं सकता। सच पूछें तो इन कठिनाइयों के रहने और परिस्थितियों के अनुकूल न होने के कारण कुशल प्रबन्ध-व्यवस्था के विकास की इस क्षेत्र में और भी अधिक आवश्यकता है।

कृषि के क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यवस्था के विकास में कठिनाइयों के रहने का यह मतलब नहीं है कि उत्पादकता की तकनीकें या विधियाँ कृषि के क्षेत्र में कारगर

हो ही नहीं सकती। उत्पादकता के तरीके और तकनीकें कृषि में भी वैसे ही लागू हो सकती हैं जैसे उद्योगों में। इसपर हम आगे के अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। इसी तरह यदि बारीकी से विचार किया जाए तो यह पता चलेगा कि प्रबन्ध-सम्बन्धी जो कार्य उद्योगों के संगठन के लिए आवश्यक हैं, लगभग वही कार्य कृषि के क्षेत्र में भी प्रबन्ध-व्यवस्था के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। यह दूसरी बात है कि परिस्थितियों तथा स्थानीय आवश्यकताओं की भिन्नता के कारण इनमें किसी खास पहलू पर अधिक बल देना पड़े। उत्पादन-सम्बन्धी आयोजन, साधनों की व्यवस्था, प्रशिक्षण, लागत-कटौती, हाट-व्यवस्था, वसूली (प्रोक्योरमेंट) हिसाब-किताब का रखना, वितरण, अनुसन्धान, किस्मों का सुधार, मशीनों का अच्छा रख-रखाव आदि प्रबन्ध-सम्बन्धी ऐसे काम हैं, जिनका उद्योग या कृषि दोनों में ही महत्त्व है और इनकी अच्छी व्यवस्था पर ही इन क्षेत्रों में उत्पादकता बढ़ सकती है।

कृषि के क्षेत्र में गत तीन योजनाओं के दौरान जो कार्यक्रम चलाये गए हैं और उसमें जो सफलताएँ-असफलताएँ मिली हैं, यदि उनका सही-सही विश्लेषण किया जाए तो हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि यद्यपि हमने इस क्षेत्र में काफी खर्च किया है, तथापि अच्छे प्रबन्ध के अभाव में उनका भरपूर और सही उपयोग नहीं हो सका है। यही कारण है कि जितना धन बीज, उर्वरकों, सिंचाई, कीट-नाशकों आदि पर खर्च किया गया है, उसके अनुपात में जो कुछ पैदावार बढ़ी वह संतोष-जनक नहीं रही है। लेकिन कृषि-विकास के जो कार्यक्रम बनाये गए उन पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर भी पहुंचते हैं कि इस सम्बन्ध में समस्याओं को अच्छी तरह से समझने और उनके समाधान को सुझाने में जितनी कमी नहीं रही है, उससे कहीं अधिक कमी और शिथिलता निर्धारित कार्यक्रमों को अच्छी तरह लागू करने और उनसे अच्छे नतीजे हासिल करने में रही है। हम सभी जानते हैं कि कृषि-विकास के लिए बीज, खाद, पानी, पूंजी आदि की जरूरत है। लेकिन उन्हें कैसे हासिल किया जाए, कैसे किसानों तक पहुंचाया जाए, कैसे उनसे भरपूर लाभ उठाया जाए, ये समस्याएँ प्रारम्भ से ही सामने रही हैं और इनको हल करने के लिए ही अच्छे प्रबन्ध की आवश्यकता है।

किसी भी देश में, जहाँ खेती को वैज्ञानिक तथा तकनीकी आधार पर संगठित किया गया तथा ज्यों-ज्यों इसमें अधिक धन लगाया गया, कृषि-कार्यों में उसी अनुपात में जोखिम (रिस्क) की सम्भावना बढ़ती गई और इन खतरों पर नियंत्रण पाने के लिए प्रबन्धकों को संगठित रूप से कार्य करना पड़ा। दूसरे महा-युद्ध के पहले ब्रिटेन में खेती को पूर्णतः वैज्ञानिक आधार पर करने के जोरदार

अभियान चलाये गए और इस दिशा में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली; लेकिन १९४५ के बाद वहाँ के किसानों ने यह देखा कि खेती की लागत बहुत ही बढ़ गई है और उत्पादकता कम हो गई है। इस समस्या को उन्होंने अपनी प्रबन्ध-व्यवस्था को मजबूत आधार पर संगठित करके सिर्फ चार-पांच वर्ष में हल कर लिया और खेती की उत्पादकता को बढ़ा दिया। इसी तरह जापान और अमेरिका ने भी कृषि-विकास के कार्य को अच्छे प्रबन्ध और प्रशासनिक व्यवस्था की सहायता से काफी आगे बढ़ाया है। भारत में भी आज इसी बात की सबसे अधिक आवश्कता है।

हम अपने देश की कृषि-सम्बन्धी समस्याओं का यदि गहराई से अध्ययन करें तो यह देखेंगे कि प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्याएँ कई रूपों में सामने आती हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि भारत में कृषि-कार्य छोटे-छोटे किसानों के हाथों में इस तरह बँटा हुआ है कि संगठित आधार पर प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में बड़ी कठिनाई होती है। लेकिन ऐसा सोचना गलत है। किसान चाहे कम भूमि को जोतते हैं या ज्यादा, थोड़ी-बहुत प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्याएं उन सबके सामने रहती हैं। हमारे देश में कुशल प्रबन्ध-व्यवस्था को निजी फार्म पर और हर किसान के स्तर पर विकसित करने की बात तो तब उठेगी जब पहले यह प्रबन्ध-व्यवस्था सरकारी और गैर-सरकारी संगठन के स्तर पर विकसित कर ली जाय। इसके बाद बड़े फार्मों का नम्बर आता है। कृषि के क्षेत्र में कार्य कर रहे विभिन्न सरकारी विभागों, संगठनों, और गैर-सरकारी संगठनों तथा संस्थाओं जैसे सहकारी समितियों, पंचायतों आदि की प्रबन्ध-कुशलता में ही विकास की अभी बहुत गुंजाइश है। इनके निर्णय, कार्यक्रम, कार्यक्रमों का कार्यान्वयन, इन कार्य-क्रमों पर होनेवाले व्यय आदि ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें उत्पादकता के तरीकों को अप-नाने की सबसे अधिक आवश्यकता है और तभी इनके कार्य करने में सुधार भी हो सकता है।

कृषि के क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यवस्था को सुधारने की जब हम चर्चा करते हैं, तो जो सबसे मुख्य प्रश्न हमारे सामने उठता है वह यह कि खेती के प्रबन्ध (फार्म मैनेजमेंट) के लिए हमें क्या-कुछ करना है। सबसे पहली आवश्यकता तो खेती की विभिन्न क्रियाओं और साधनों पर होनेवाले व्यय का ठीक-ठीक हिसाब रखने की है। जबतक यह अच्छी तरह से जान न लिया जाए कि खेती पर इतना खर्च क्यों हो रहा है और वह उचित है या नहीं, तबतक प्रबन्ध-कुशलता बढ़ाने की दिशा में आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। दूसरी आवश्यकता प्रबन्ध-व्यवस्था के लिए कृषि-विकास के कामों का इस आधार पर बँटवारा करने से सम्बन्धित है कि विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे लोगों की जिम्मेदारी निश्चित की जाय। तीसरी आवश्यकता

खेती के काम में लगे लोगों के कार्य करने की प्रणाली, उनके काम में लगनेवाले समय, श्रमिकों और मालिकों में काम के अन्तर आदि अनेक विषयों के सम्बन्ध में सूचनाएँ एकत्रित करने और उनके विश्लेषण की है। इसके अतिरिक्त प्रबन्धकों को यह जानकारी भी रखनी चाहिए कि कृषि के क्षेत्र में लगनेवाले साधनों की पूर्ति कैसे और कहाँ से की जा सकती है। ये तमाम आवश्यकताएँ प्रबन्ध-व्यवस्था सुधारने की प्रारम्भिक शर्तें हैं। जबतक इन सबके विषय में सही सूचनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं तब तक वैज्ञानिक आधार पर प्रबन्ध-व्यवस्था सुधारने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आएँगी। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि अच्छे प्रबन्ध के विकास के लिए तब तक कोई कदम न उठाया जाए जब तक ये शर्तें पूरी नहीं हो जातीं। अनाज और कच्चे माल की कमी तथा देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए, खेती के विकास के लिए उठाये गए हर कदम का स्वागत किया जाएगा। साथ ही, अपने काम को प्रारम्भ करने के पूर्व इन कठिनाइयों को स्वयं प्रबन्धकों को ही हल करना होगा।

यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि कृषि के क्षेत्र में प्रबन्धक से हमारा क्या मतलब है। इसका एक सामान्य उत्तर यही हो सकता है कि कृषि-कार्यक्रमों को बनाने, इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय लेने, दिशा-निर्देशन देने, साधनों की व्यवस्था करने, कार्यक्रमों को लागू करने आदि की जिम्मेदारी जिन लोगों पर है, वे सभी प्रबन्धक हैं। पारिभाषिक दृष्टि से यह बात बिल्कुल सही है, लेकिन सुविधा के लिए हम कह सकते हैं कि वे तमाम लोग प्रबन्धकों की श्रेणी में आते हैं, जो कार्यक्रमों के बनाने और उन्हें लागू करने के लिए जिम्मेदार हैं। प्रबन्धकों की इस पंक्ति में योजना आयोग, कृषि-विभागों, सहकारी विभागों तथा जिला, ब्लाक और ग्राम-स्तर पर काम करने वाले सभी अधिकारी और कर्मचारी आते हैं। साथ ही, वे किसान भी हैं जो खेती का काम निजी तौर पर कर रहे हैं। जब कुशलता बढ़ाने की बात कहते हैं तो इन सबकी कुशलता बढ़ाने की बात उठती है, जो एक बहुत बड़ी समस्या है और जल्दी हल नहीं हो सकती। लेकिन इस दिशा में शीघ्र सफलता पाने के लिए यह आवश्यक है कि उन थोड़े-से क्षेत्रों में हम प्रबन्ध-सम्बन्धी कुशलता बढ़ाने के तत्काल कदम उठायें जहाँ कार्यक्रमों की प्राथमिकता निश्चित करने और उन्हें लागू करने की जिम्मेदारी है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो ऐसे कार्यक्रम निश्चित किए जाएँगे जिनको अमल में लाने में कठिनाइयाँ होंगी और निर्धारित लक्ष्य कभी भी पूरे नहीं होंगे।

प्रबन्ध-सम्बन्धी ज़िम्मेदारियाँ और समस्याएँ

कुशल प्रबन्ध के विकास के प्रश्न पर विचार करते समय आवश्यक है कि प्रबन्ध-सम्बन्धी जिम्मेदारियों तथा समस्याओं पर भी विचार किया जाए। इस सम्बन्ध में एक सामान्य परन्तु बुनियादी बात यह है कि कृषि-विकास के लिए जो कार्यक्रम निर्धारित किए जाते हैं, उन्हें लागू करते समय प्रबन्धक उसके लागत और नतीजे के अनुपात पर बराबर ध्यान रखें। यह तभी सम्भव है जब साधनों के पूर्ण उपयोग और बर्बादी के रोकने के प्रति प्रबन्धक बराबर सतर्क रहें। निर्धारित कार्यक्रमों के लक्ष्य समय से प्राप्त किए जाएँ, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, लेकिन वह किस कीमत पर हासिल किया जाता है, उत्पादकता की दृष्टि से यह भी बहुत महत्वपूर्ण है। प्रबन्धक की पहली जिम्मेदारी है कि वह कम-से-कम व्यय में अधिक-से-अधिक नतीजे हासिल करें।

लागत और नतीजे के प्रति सतर्क न रहने के कारण अक्सर बहुत-से कार्यक्रम जिस अनुमानित व्यय पर प्रारम्भ किए जाते हैं, बाद में उन पर अधिक व्यय करना पड़ जाता है। वस्तुतः कृषि के क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यवस्था की सफलता की कसौटी ही निम्नलिखित दो बातें हो सकती हैं :

१. क्या वर्तमान उपलब्ध साधनों तथा वैज्ञानिक और टेक्नीकल जानकारी का लाभ उठाकर कृषि-कार्यक्रमों को इस प्रकार निश्चित और लागू किया जा सकता है कि उससे उत्पादकता बढ़े।

२. क्या साधनों को बढ़ाकर और बेहतर टेक्नीकल जानकारी की सहायता से उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है।

किसी भी प्रबन्ध-व्यवस्था की सफलता इन दोनों ही तरीकों को आजमाने पर निर्भर करती है। कृषि के क्षेत्र में किये गए विभिन्न सर्वेक्षणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि वर्तमान साधनों और टेक्नीकल जानकारी के आधार पर भी कृषि-उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है, बशर्ते कि कार्यक्रमों को निश्चित करने और उनको लागू करने में कुशलतापूर्वक कार्य किया जाय। यह प्रबन्धक की ही जिम्मेदारी होगी कि वह वर्तमान साधनों के बेहतर उपयोग और इस क्षेत्र में होने वाली बर्बादी को रोककर उत्पादकता बढ़ाए और साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह यह देखे कि कैसे अधिक पूंजी और साधनों की व्यवस्था द्वारा उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। इसके लिए आवश्यक होगा कि खेती के जो वर्तमान तरीके कृषकों द्वारा अपनाए जाते हैं उनकी उपयोगिता व उनके लाभ का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाय कि उनमें से किनको चलने दिया जा सकता है, किनमें मामूली परिवर्तन की जरूरत है और कौन-सी ऐसी हैं, जिन्हें समाप्त करने पर जोर दिया

जाय। इस तरह विभिन्न साधनों की कुशलता को परखने की आवश्यकता होगी।

इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न कार्यक्रमों को निर्धारित करने वाले विभिन्न विभागों तथा उन्हें लागू करने वाले विभागों में पूरी तरह तालमेल रखने और एक ही उद्देश्य से काम करने का है। यदि तालमेल और उद्देश्य की एकता न रहे तो फिर मिल-जुलकर प्रयत्न करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

उदाहरण से इस बात को अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। हमने पहले बताया कि देश में जितने क्षेत्र के लिए सिंचाई की सुविधाएं दी गईं उससे कम क्षेत्र में सिंचाई हुई अर्थात् सिंचाई की उपलब्ध क्षमता का पूरा लाभ नहीं उठाया गया। इसके कई कारण रहे। जहां नलकूप या पम्पिंग-सेटों से सिंचाई की सुविधाएं दी गईं वहां बिजली की पूर्ति ठीक ढंग से नहीं हुई या पावर कनेक्शन काफी समय तक नहीं मिले। कहीं ट्यूब-वेल तो लगे, लेकिन नालियों के बनाने में विलम्ब हुआ या जो नालियां बनीं वे कमजोर रहीं जिससे पानी इधर-उधर बह जाता रहा। कई जगह इन नल-कूपों की मरम्मत की व्यवस्था ठीक नहीं रही और काफ़ी समय तक स्पेयर पार्ट नहीं मिले। कुछ स्थानों पर पानी के वितरण में अव्यवस्था रही। कहीं कृषकों ने सिंचाई-दर के अधिक होने के कारण इसका पूरा लाभ नहीं उठाया। कुछ स्थानों पर कुएं बनाने के ऋण को किसानों ने अच्छे कुएं बनाने में खर्च नहीं किया, कहीं पुराने ही कुओं की मरम्मत करके उहें नया बता दिया गया, कहीं-कहीं कुएं बने ही नहीं। अगर पहले से ही इन सब समस्याओं को ठीक ढंग से समझने, विभिन्न विभागों में तालमेल तथा कार्यक्रमों के लागू करने में मुस्तैदी बरती जाती तो सिंचाई की पूरी क्षमता का उपयोग अवश्य हुआ होता। यही बात कृषि के अन्य कार्यक्रमों के विषय में भी सही है। भूमि-सुधार, बीज व खाद का ठीक ढंग से वितरण आदि जितने भी कार्य हैं उन सबमें विभिन्न विभागों और एजेन्सियों को मुस्तैदी से और एक-दूसरे के साथ पूरे ताल-मेल के साथ काम करना चाहिए।

प्रबन्ध-सम्बन्धी दूसरी महत्वपूर्ण समस्या खेती के क्षेत्र में विज्ञान और टेक्नालॉजी (तकनीकी विधियों) को फैलाने की है। कैसे इनका इस तरह फायदा उठाया जाय कि इनसे लाभ तो हो, लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी न बढ़े। इसके लिए सबसे आवश्यक बात प्रत्येक क्षेत्र की परिस्थितियों, समस्याओं तथा आवश्यकताओं के अध्ययन की होगी, ताकि उसीके अनुरूप इन परिवर्तनों को लाया जाए। विज्ञान और टेक्नोलॉजी की सहायता से ही कृषि को गुजर-बसर की स्थिति से लाभदायक व्यवसाय के स्तर पर लाया जा सकता है, लेकिन इसके लिए जहाँ एक ओर कृषि में अधिक पूंजी के विनियोग की समस्या उठेगी, वहीं

देश के करोड़ों किसानों से कारगर सम्पर्क की भी।

भारत एक बहुत बड़ा देश है। यहां विज्ञान और टेक्नालॉजी को कृषि-क्षेत्र में स्थान देने के पूर्व लोगों की समस्याओं को ध्यान में रखना होगा। कुछ समय पहले पाठ्य-पुस्तकों में खेती के पिछड़े होने के कारणों में यह बात भी हर जगह दर्ज रहती थी कि इस पिछड़ेपन का कारण ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त अशिक्षा है। लेकिन नियोजन के १५ वर्षों के अनुभवों के आधार पर यह बात बेबुनियाद हो गई है और अशिक्षा के कारण कृषक में बुद्धि, कुशलता या चतुराई की कमी है, ऐसा कोई नहीं कह सकता। शिक्षा के कारण पुस्तकों या समाचार-पत्रों के जरिए किसान खेती के नये तरीकों का ज्ञान भले न कर पाएं, लेकिन अनुभव, देखने तथा समझाने के अन्य तरीकों से वे हर बात को बहुत अच्छी तरह से पकड़ते हैं। किताबी जानकारी न होने के बावजूद खेती के नये कार्यक्रमों के बारे में यदि उन्हें प्रदर्शनों, गोष्ठियों, रेडियो, चलचित्रों आदि सम्पर्क के दूसरे तरीकों से कोई बात बताई जाती है तो उसे वे अवश्य ग्रहण करते हैं। हां, उस पर अमल वे तभी करते हैं जब उसकी उपयोगिता या लाभ का उन्हें पक्का विश्वास हो जाता है। कृषि के कार्यक्रमों को लागू करने वाले सभी कर्मचारियों तथा कार्यकर्ताओं को इन समस्याओं पर विचार करना चाहिए कि किस क्षेत्र में किसानों से सम्पर्क के किस तरीके से वे सफल हो सकते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि कृषक नये तरीकों को अपनाना तो चाहते हैं, लेकिन उनके पास पूंजी नहीं है या उनकी खेती का आकार ही इनके लिए पर्याप्त नहीं है। किसानों तक पहुंचने और उन्हें प्रेरित करने के कार्य को मानवीय आधार पर संगठित करना होगा और इसमें प्रबन्धकों को धैर्य रखना होगा और असफलताओं के कारण हिम्मत नहीं हारनी होगी। अशिक्षा, सामाजिक परिस्थितियों, रूढ़ियों आदि के कारण कठिनाइयां अवश्य हैं, लेकिन किसान अपने जीवन-स्तर को ऊपर न उठाना चाहते हों, वे खुशहाल जीवन व्यतीत करना न चाहते हों, ऐसा सोचना व्यर्थ है। किसानों के सोचने, विचारने, काम करने, उनके रहन-सहन इन तमाम बातों को उनके बीच काम करते समय ध्यान में रखना होगा। साथ ही, किसी योजना को उनके सामने रखने के पूर्व उसके व्यावहारिक लाभों को उन्हें प्रदर्शनों द्वारा दिखाना भी होगा। पहले किसान रासायनिक खाद की उपयोगिता को जल्दी नहीं स्वीकार करते थे, लेकिन अब वे उसके लाभों के पूरे कायल हो चुके हैं।

वस्तुतः किसानों से सम्पर्क, उन तक पहुंचने, उनमें काम करने और सफलता पाने की जिम्मेदारी प्रबन्धकों की है और इसे किसी निश्चित सिद्धांत और फार्मूले के आधार पर हल नहीं किया जा सकता। हर क्षेत्र में और गांवों के

हर स्तर के लोगों तक पहुंचने के लिए प्रबन्धकों को स्वयं मार्ग-निर्धारण करना होगा। कभी-कभी उन्हें असफलता मिल सकती है, लेकिन अपनी असफलता के कारणों के विश्लेषण के बाद वे आसानी से यह निश्चित कर सकते हैं कि किस तरह से सम्पर्क करने में वे सफल हो सकते हैं।

प्रबन्धकों की एक मुख्य जिम्मेदारी भूमि का किस तरह सबसे अच्छा उपयोग किया जा सकता है इसके लिए पहले से ही नियोजन करने की है। इस सम्बन्ध में कई प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। किसी क्षेत्र विशेष में कितनी फसलें पैदा की जा सकती हैं, फसलों का चक्र क्या होना चाहिए, उसके लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं या नहीं, यदि नहीं तो उनकी व्यवस्था कैसे की जाए, किसी भूमि में अनाज पैदा करना बेहतर है या फल, या उसमें चरागाह विकसित किए जायं और ऐसे ही अन्य प्रश्न भूमि के बेहतर उपयोग की समस्या पर विचार करते समय उठते हैं। इस सम्बन्ध में प्रबन्धकों को यह देखना चाहिए कि कृषि के विभिन्न कार्यक्रम इस प्रकार बनाए जाएं कि उनसे किसानों को अधिक-से-अधिक लाभ हो और पैदावार बढ़े। साथ ही राष्ट्रीय आवश्यकता को भी ध्यान में रखना होगा। हो सकता है कि व्यापारिक फसलों को बोने से किसानों को निजी रूप से लाभ हो रहा है, लेकिन देश में अनाज की कमी के कारण व्यापारिक फसलों के बोने पर अंकुश लगाने की आवश्यकता है। इन दोनों ही बातों में सन्तुलन कायम रखने की जिम्मेदारी प्रबन्धकों की है। इसके अतिरिक्त निजी आधार पर कृषकों को भी इन बातों को ध्यान में रखकर फसल-चक्र तथा भूमि के विभिन्न उपयोगों के लिए अपने-अपने कार्यक्रम बनाने होंगे। कुछ समय पूर्व सरकार ने खेती करनेवाले प्रत्येक परिवार के कृषि-कार्यक्रमों के तैयार करने पर जोर दिया था, लेकिन बाद में यह महसूस किया गया कि इससे विकास खण्डों में और ग्राम-सेवक स्तर पर कागजी काम बहुत बढ़ गया। अतः इस कठिनाई को भी दूर करना होगा कि इन कार्यक्रमों के कारण कृषि-प्रसार-कार्यों में बाधाएं न पैदा हों।

भूमि के बेहतर उपयोग तथा साधनों की व्यवस्था तथा इन साधनों के अच्छे इस्तेमाल के लिए कुछ ऐसे कार्यक्रमों के संगठन की जिम्मेदारी भी प्रबन्धकों पर आएगी जो दीर्घकालीन नियोजन के अंग कहे जा सकते हैं। ये कार्यक्रम अनुसन्धान, प्रयोगशालाओं की व्यवस्था, पैदावार के संग्रह, विपणन तथा वितरण की व्यवस्था, खाद्यान्नों के रखने के लिए अच्छे भण्डारों का निर्माण, उनके परिरक्षण और कृषकों को इन सबके विषय में नई जानकारी देने आदि से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त कृषि पर निर्भर उद्योगों की आवश्यकता का सही-सही अनुमान लगाना, उनके लिए अच्छा कच्चा माल उपलब्ध कराना, उनके द्वारा पैदा किये

गए माल जैसे उर्वरक आदि को पर्याप्त मात्रा में कृषकों को उपलब्ध कराने जैसे काम भी प्रबन्धकों के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत ही आते हैं।

मानव-कुशलता की वृद्धि

कृषि के क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यवस्था के विकास के लिए यह आवश्यक है कि इस क्षेत्र में लगे मानव-साधन की कुशलता भी बढ़ाई जाए। हमारे देश में जन-संख्या तेजी से बढ़ रही है और भूमि पर आबादी का भार अधिक है। जब तक दूसरे उद्योग-धंधों में अधिक अवसर प्रदान करके भूमि पर बढ़ती हुई जनसंख्या के भार को कम नहीं किया जाता तब तक मानव-कुशलता को पूर्ण रूप से बढ़ाने में बुनियादी दिक्कत रहेगी। लेकिन इस समस्या को दो तरह से फिलहाल हल करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। पहला तरीका तो कृषि के क्षेत्र में मजदूरों तथा छोटे किसानों में गतिशीलता लाने का है। जहां मजदूर अधिक हैं वहां से जहां कम मजदूर हैं वहां उन्हें ले जाना चाहिए। देश के कई भागों में वर्ष के कुछ समय जब फसलों की कटाई या रोपाई होती है उस समय इस तरह की गतिशीलता पैदा होती है, लेकिन वह बहुत सीमित आधार पर और कुछ ही समय के लिए। विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अध्ययन के बाद खेतिहर मजदूरों की गतिशीलता बढ़ाने का कोई दीर्घकालीन कारगर कार्यक्रम अवश्य बनाना होगा। इसी तरह हर गांव में कुछ ऐसे लोग हैं, जो आधा एकड़, एक एकड़ भूमि जोतते हैं और दूसरे खेतों पर मजदूरी करते हैं। ऐसे लोगों को भी दूसरे क्षेत्रों में, विशेषत: जहां दूसरे धंधे उपलब्ध हों या अधिक भूमि काश्त के लिए उपलब्ध हो वहां बसाया जा सकता है।

मानव-कुशलता की वृद्धि का दूसरा कारगर तरीका कृषकों को खेती की नई विधियों से अवगत कराने के लिए उचित प्रशिक्षण देने से ताल्लुक रखता है। उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। लेकिन कृषि के क्षेत्र में प्रशिक्षण की जो व्यवस्था हो वह ऐसी होनी चाहिए कि हर तरह के कृषक उससे लाभ उठा सकें। उद्योगों में उच्च प्रबन्धकों के प्रशिक्षण के लिए अक्सर न्यूनतम योग्यता निश्चित की जाती है, लेकिन कृषि के क्षेत्र में प्रशिक्षण के लिए सिर्फ इतनी योग्यता को ही आधार माना जाना चाहिए कि वह एक किसान है। यह दूसरी बात है कि व्यावसायिक दक्षता के आधार पर प्रशिक्षण के कई स्तर कायम किए जाएं जैसे प्रगतिशील कृषकों, विकास कर्मचारियों आदि के लिए प्रशिक्षण का जो स्तर होगा वही स्तर सामान्य कृषकों का भी हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेकिन उन सभी लोगों को जो खेती में लगे हैं, वे शिक्षित हैं या

अशिक्षित, उन्हें प्रशिक्षण-केन्द्रों पर नई बातों को समझने-जानने के लिए अवश्य बुलाना चाहिए। साथ ही, यह प्रशिक्षण-केन्द्र, जहां तक सम्भव हो ग्रामीण क्षेत्रों में ही रहें, यदि सम्भव हो तो उन्हें मोबाइल ढंग का बनाया जाए। हर प्रशिक्षण कैम्प में जो बातें कृषकों को बताई जायं उन्हें फार्मों पर प्रदर्शन द्वारा दिखाया भी जाना चाहिए। यदि सम्भव हो तो कृषि की नई विधियों को प्रत्येक गांव में कुछ प्रगतिशील कृषकों के खेतों में अपनाने की व्यवस्था की जाए। यदि आवश्यक हो तो इसके लिए उन्हें प्रोत्साहन के रूप में कुछ धन भी दिया जाय। उत्तर प्रदेश में लखनऊ के पास बख्शी के तालाब में ग्रामीण कृषि नेताओं के प्रशिक्षण के लिए जो व्यवस्था की गई है वह एक प्रशंसनीय कदम है और इसका प्रसार दूसरे क्षेत्रों में भी किया जाना चाहिए।

जिस तरह किसानों को खेती की नई विधियों में प्रशिक्षित करने की बात उठती है, उसी तरह कृषि-क्षेत्र में काम कर रहे टेक्नीकल स्टाफ की ट्रेनिंग भी समय-समय पर होनी चाहिए। इस तरह की ट्रेनिंग में दो बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। जो पुराना स्टाफ है उसे नई बातों की जानकारी कराई जाय। जो नया स्टाफ है उसे ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओं और परिस्थितियों से अवगत कराया जाय। अक्सर देखा गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने के अनुभव के अभाव में नये टेक्नीकल कर्मचारी अनेक कठिनाइयों का अनुभव करते हैं। उन्हें उस सारे माहौल से शिकायत रहती है, जिसमें वे काम करते हैं। यदि उन्हें इस आधार पर प्रशिक्षित किया जाए कि गांवों में उन्हें किन कठिनाइयों का सामना करना है और उन्हें किस तरह हल करना चाहिए, तो उनका कार्य करने का तरीका अधिक व्यावहारिक होगा।

कार्यक्रम-मूल्यांकन

अच्छी प्रबन्ध-व्यवस्था का निर्माण तभी सम्भव है जब प्रबन्धक अपनी सफलताओं के साथ-साथ अपनी गलतियों या कमियों के बारे में भी बराबर सतर्क रहें। जो कुछ कार्यक्रम अपनाए जाते हैं उनकी सफलता, उपयोगिता, प्रभाव तथा कमियों की समय-समय पर जानकारी करते रहना अच्छे प्रबन्धक का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है और इसके लिए आजकल कार्यक्रमों के मूल्यांकन पर सबसे अधिक जोर दिया जाता है। कृषि के क्षेत्र में भी इसी तरह के मूल्यांकन की व्यवस्था रहनी चाहिए। अक्सर देखा गया है कि कार्यक्रमों के मूल्यांकन से बहुत-से कर्म-चारी घबराते हैं, लेकिन इसका उद्देश्य किसीकी पदोन्नति या तनुज्जली करने का नहीं रहना चाहिए। समस्याओं को सही अर्थ में समझने और उनके सही समाधान

ढूँढ़ने के लिए मूल्यांकन किये जाते हैं। अक्सर देखा गया है कि कार्यक्रमों के अमल और प्रभाव के बारे में जो आँकड़े दिए जाते हैं वे काफी बढ़ा-चढ़ाकर दिए जाते हैं, जिससे कार्यक्रमों के प्रभाव का सही अन्दाज नहीं लगता। अतः समय-समय पर निष्पक्ष दलों तथा विशेषज्ञों से मूल्यांकन कराते रहना किसी भी जिन्दा संगठन और सतर्क प्रबन्ध-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।

साधनों की कुशलता की परख

कृषि के क्षेत्र में प्रबन्धकों को यह देखना है कि जो साधन लगाए जाते हैं उनके परिणाम कैसे हैं। साधनों के चयन और उनके उपयोग तथा उनसे प्राप्त नतीजों का समय-समय पर विश्लेषण करना चाहिए। हो सकता है कि किसी क्षेत्र में अमुक किस्म का बीज दूसरे बीज के मुकाबले जमने में अधिक अच्छा है, उस पर कीड़े न लगते हों। इसी तरह सिचाई के एक ही तरह के तरीके हर जगह के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते। मशीनों, खाद, श्रम, पूंजी, कीट-नाशकों आदि विभिन्न साधनों की मात्रा, आवश्यकतानुसार उनकी पूर्ति में परिवर्तन आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जिन पर प्रबन्ध करने वालों को ध्यान रखना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब साधनों की कुशलता की परख की जाए। इस परख के लिए वैज्ञानिक विश्लेषण की सहायता ली जा सकती है। भारतीय परिस्थितियों में कृषकों के अनुभव के आधार पर भी इस दिशा में बहुत-कुछ किया जा सकता है। कुशल प्रबन्धक को इस विषय में भी सतर्क रहना चाहिए। इसी तरह कहां कितनी आवश्यकता है, इसके बारे में पूरी जानकारी न रखने के कारण कभी-कभी ऊपर के अधिकारी नीचे के कर्मचारियों के लिए परेशानी पैदा कर देते हैं। कहीं खाद की मांग कम रहती है, लेकिन ऊपर से लक्ष्य निश्चित करके खाद ब्लाकों में या ग्रामसेवकों के यहां भेज दी जाती है जिससे साधनों की बर्बादी होती है। यदि पहले से उस विषय में पूरी जानकारी कर ली जाए तो इन साधनों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

आयोजन और अमल

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के विषय में अच्छी प्रबन्ध-व्यवस्था पर विचार करते समय हमें कार्यक्रमों के बनाने, लक्ष्यों को निर्धारित करने तथा उन पर अमल करने के प्रश्न पर भी विचार करना होगा। अक्सर यह कहा जाता है कि निर्धारित लक्ष्य पूरे नहीं हो पाते। इस सम्बन्ध में सबसे पहले तो यह देखना होगा कि कहीं ऐसे लक्ष्य तो नहीं निर्धारित कर दिए जाते जिनको प्राप्त करना ही सम्भव नहीं

या लक्ष्य तो ठीक रखे गए, लेकिन उनको प्राप्त करने के लिए जितनी मुस्तैदी और प्रयत्न की आवश्यकता थी, उसमें कमी रही। ऐसा भी सम्भव है कि इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जितनी धनराशि की व्यवस्था की गई, वह गलत ढंग से खर्च की गई और बाद में उसमें कमी हो गई, या ये सब बातें तो ठीक रहीं, लेकिन कार्य की देख-रेख में कमी रही। किसी भी दृष्टि से इन प्रश्नों पर विचार करें तो यह पता चलेगा कि ये कठिनाइयां नियोजन तथा उसको लागू करने में कमी के कारण ही उत्पन्न होती हैं। नियोजन और कार्यान्वयन की यह खाई उचित देख-रेख के अभाव, मितव्ययता न रखने, काम को गलत लोगों के हाथों सौंपने, सही कार्य-दिशा न देने, प्राथमिकताओं को गलत ढंग से निश्चित करने आदि कारणों से बढ़ जाती है, जो उचित प्रबन्ध-व्यवस्था की जिम्मेदारियां हैं।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि कृषि के क्षेत्र में मौसम के विपरीत प्रभाव के कारण निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं होते, लेकिन अच्छा प्रबन्धक वही है, जो इन विपरीत परिस्थितियों को भी अपने कार्यक्रम व लक्ष्य निर्धारित करते समय ध्यान में रखते हुए इसके लिए पूरी गुंजाइश रखता है। कृषि-विकास-कार्यक्रमों के सम्बन्ध में इस तरह की गलतियों के कारण अक्सर धोखा हुआ है। बेहतर हो कि वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखकर ही कार्यक्रम बनाए जाएं और लक्ष्य निर्धारित किए जाएं और एक बार जब ऐसा कर दिया जाए, फिर उसके लागू करने की जिम्मे-दारी हर स्तर पर निश्चित कर दी जाए। आयोजन और अमल की खाई को इसी तरह समाप्त किया जा सकता है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी अन्य समस्याएं

किसी भी क्षेत्र में प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्याओं या कार्यक्रमों की कोई सूची तैयार करनी असम्भव है, क्योंकि यह स्थानीय परिस्थितियों पर बहुत-कुछ निर्भर है। लेकिन अभी जिन समस्याओं का जिक्र किया गया है, उनके अतिरिक्त प्रबन्ध-सम्बन्धी कुछ ऐसे प्रश्न भी हैं जिन पर अलग से विचार करना आवश्यक है, क्योंकि कृषि-उत्पादकता बढ़ाने से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये समस्याएं हैं :

(क) क्या उत्पादकता की तकनीकों को कृषि के क्षेत्र में लागू किया जा सकता है ?

(ख) किसानों को उत्पादकता बढ़ाने के लिए कैसे प्रेरित किया जाए और उन्हें किस तरह बढ़ावा दिया जाए ?

(ग) सामुदायिक विकास योजना तथा सहकारी संगठनों का कृषि-उत्पा-दकता बढ़ाने में योगदान एवं उनको शक्तिशाली बनाने का प्रश्न।

: ८ :

उत्पादकता-तकनीकों का कृषि में उपयोग

द्वितीय महायुद्ध के बाद उत्पादकता की तकनीकों का इस हद तक विकास हो चुका है कि उद्योगों में अधिक-से-अधिक कार्यों के लिए इनकी सहायता ली जा रही है। उत्पादकता की तकनीकें कृषि के क्षेत्र में भी लागू की जा सकती हैं। ब्रिटेन, जापान, पश्चिमी जर्मनी, अमेरिका आदि कृषि के क्षेत्र में आगे बढ़नेवाले देशों में इन तकनीकों को औद्योगिक क्षेत्रों में आजमाने के बाद अब कृषि-क्षेत्र में व्यापक रूप से अपनाया जा रहा है और इससे अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा रहे हैं। आज के युग में हर काम को करने के लिए वैज्ञानिक आधार ढूंढ़ा जाता है तथा धीरे-धीरे उसे विशेषज्ञता (स्पेशलाइज़ेशन) की स्टेज तक पहुंचाया जाता है, लेकिन अगर बारीकी से देखें तो इनमें से अधिकांश कार्य ऐसे हैं, जिनमें सामान्य बुद्धि या अनुभव-जैसी बातें अवश्य रहती हैं जो किसी विशेषज्ञ का एकाधिकार नहीं कही जा सकतीं। हाँ, इतना अवश्य है कि आर्थिक जीवन के जटिल होने और आर्थिक प्रयत्नों के अधिक व्यापक रूप लेने के कारण कार्य-विभाजन और विशेषज्ञता का महत्त्व निरंतर बढ़ता जा रहा है और इसी प्रक्रिया में उत्पादकता की तकनीकों का भी विकास हुआ है। कैसे किसी काम को कम-से-कम समय में, आसान-से-आसान तरीके से, कम-से-कम लागत पर और अच्छा-से-अच्छा किया जा सकता है, यही विशेषज्ञता या उत्पादकता की तकनीकों को विकसित करने के उद्देश्य हैं। अतः उत्पादकता की तकनीकों की चर्चा करने या उसे अपनाने पर जोर देने से यह नहीं समझना चाहिए कि कोई ऐसी बात कही जा रही है जिसे प्राप्त करना या लागू करना असम्भव है। वस्तुतः प्रायः सभी प्रगतिशील या अच्छे किसान जाने-अनजाने इन तकनीकों की बुनियादी बातों या इनमें जो सामान्य बातें होती हैं उन्हें किसी-न-किसी रूप में अपनाते ही हैं। कार्य-जाँच (वर्क स्टडी), मानकीकरण (स्टैंडर्डाइज़ेशन) या ऐसी अन्य उत्पादकता-तकनीकों की तह में जाएं तो देखेंगे कि इनमें निहित मूल भावना या उद्देश्य काम को बेहतर ढंग से करने का है और ये तकनीकें उत्पादकता बढ़ाने के साधन हैं न कि साध्य। चूंकि आज के युग में विशेषज्ञों की सहायता से हर काम करने में सुविधा रहती है, अतः

विशेषज्ञता और तकनीकों का विकास होता जा रहा है। कृषि के क्षेत्र में भी इन विधियों को लागू करने से लाभ ही होगा। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि सभी जगह, सभी परिस्थितियों में और सभी समय इन तकनीकों को लागू किया जा सकता है। कहाँ कौन-सी तकनीक लागू की जानी चाहिए, जिन इकाइयों पर उन्हें लागू किया जाता है वहां इन तकनीकों को लागू करना आर्थिक रूप से लाभप्रद है या नहीं और ऐसी ही अनेक बातों पर उत्पादकता की तकनीकों को लागू करते समय विचार करना होगा। भारतीय परिस्थितियों में भी इन बातों को बराबर ध्यान में रखना होगा, क्योंकि यहां कृषि एक पिछड़ा हुआ धन्धा है और साथ ही खेती करने की कुशलता के भिन्न-भिन्न स्तर हैं। उत्पादकता-विधियों को लागू करते समय मोटे तौर पर कृषि को निम्न क्षेत्रों में विभाजित करना होगा—

(क) कृषि-उत्पादन।

(ख) कृषि-सेवाएँ, जिनमें सहकारी संस्थाएँ, सामुदायिक विकास, कृषि अनुसंधान, खाद्य निगम आदि सम्मिलित हैं।

(ग) कृषि को मदद करने वाले उद्योग जैसे उर्वरकों, कीटनाशकों, कृषि यंत्रों आदि को पैदा करने के कारखाने।

(घ) कृषि पर निर्भर उद्योग जैसे चीनी मिल, जूट मिल, तिलहन के उद्योग, चावल मिल, वनस्पति घी के कारखाने।

(ङ) वितरण, वसूली, विपणन या क्रय-विक्रय-व्यवस्था।

उत्पादकता-तकनीकों को पहले उन्हीं क्षेत्रों में लागू करना होगा जहाँ उनसे जल्दी और अच्छे नतीजे हासिल हो सकें, क्योंकि जब तक इन तकनीकों के व्यावहारिक लाभों को चुने हुए क्षेत्रों में प्रदर्शित नहीं किया जाता तब तक इनको अपनाने के प्रति लोगों में तरह-तरह की आशंकाएँ रहेंगी। औद्योगिक या व्यावसायिक क्षेत्रों में भी पहले उत्पादकता-विधियाँ उन्हीं इकाइयों में लागू की गईं जहाँ इसके लिए उपयुक्त अवसर थे और बाद में इनका दूसरी इकाइयों में प्रसार हुआ। कृषि के क्षेत्र में भी उत्पादकता-तकनीकों को पहले ऊपर बताए गए सभी क्षेत्रों में परन्तु कुछ चुनी हुई इकाइयों में लागू किया जा सकता है और उनके लागू करने के परिणामों के अध्ययन और विश्लेषण के बाद यह निश्चित हो सकता है कि वे कौन-से ऐसे कृषि-कार्य हैं जहाँ सबसे पहले इन तकनीकों को लागू करने से अधिक लाभ उठाया जा सकता है। इससे यह भी पता चल सकेगा कि किस क्षेत्र में पहले किस तकनीक को अपनाना ठीक रहेगा।

जैसाकि पहले कहा गया है, विशेषज्ञता के इस युग में उत्पादकता-तकनीकों का बराबर विकास हो रहा है। अतः यह सोचना भी जरूरी होगा कि

फिलहाल भारतीय परिस्थितियों में कौन-सी तकनीकें अधिक कारगर हो सकती हैं। उत्पादकता बढ़ाने की सबसे महत्वपूर्ण और कारगर तकनीक है कार्य-अध्ययन, इसलिए सबसे पहले इसके सम्बन्ध में ही विचार करना आवश्यक है।

कार्य-अध्ययन तकनीक का मुख्य उद्देश्य किसी काम को वर्तमान ढंग पर किस तरह किया जा रहा है और उसमें कैसे सुधार किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में अध्ययन करना है। इसके दो भाग होते हैं। (१) विधि-अध्ययन (मेथड स्टडी), (२) कार्य-मापन (वर्क मेजरमेंट)। इस तकनीक की सहायता से कार्य को सरल ढंग से करने, उसके बोझ को हल्का करने, अच्छी बनावट, सही नियोजन और नियंत्रण आदि में सहायता ली जाती है। कृषि के क्षेत्र में इस तकनीक के ज़रिए बहुत महत्वपूर्ण सुधार किए जा सकते हैं। कृषि-फार्मों, कृषि-यंत्रों को डिज़ाइन करने और उन्हें पैदा करने वाले उद्योगों, सहकारी समितियों आदि में कार्य-अध्ययन तकनीक से उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। कार्य-अध्ययन विशेषज्ञ इन जगहों पर जाकर बता सकते हैं कि कौन-कौन-सी क्रियाएं बार-बार करने की जगह कम बार की जा सकती हैं, किस तरह विभिन्न उपकरणों का उपयोग अधिक कारगर ढंग से किया जा सकता है, कैसे उत्पादन-लागत घटाई जा सकता है, आदि।

उत्पादकता की अन्य तकनीकों के बारे में विस्तारपूर्वक चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं है और इस सम्बन्ध में विशेषज्ञ ही पूरी बातें बता सकते हैं, लेकिन मोटे तौर पर विचार करने पर यह बात बहुत स्पष्ट है कि मानकीकरण (स्टैंडर्डडाइज़ेशन), किस्म-नियंत्रण (क्वालिटी कंट्रोल),सामग्री-प्रबन्धन(मैटिरियल मैनेजमेंट), परिचालन-शोध (ऑपरेशन्स रिसर्च), प्रोत्साहन (इनसेन्टिव), कर्मचारी-प्रबन्धन (पर्सोनेल मैनेजमेंट), वित्तीय नियंत्रण (फाइनेन्शियल कंट्रोल), उत्पादन-नियोजन और नियंत्रण (प्रोडक्शन प्लानिंग एण्ड कंट्रोल), निवारक रख-रखाव (प्रीवेन्टिव मेंटीनेंस), सांख्यकी किस्म नियंत्रण (स्टेटिस्टिकल क्वालिटी कंट्रोल) आदि उत्पादकता-तकनीकों को कृषि के क्षेत्र में लागू करके अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। प्रोत्साहन, मानकीकरण, किस्म-नियंत्रण आदि को कृषि-क्षेत्र में लागू करने में कुछ संस्थाओं द्वारा कदम भी उठाए गए हैं। कृषि-अर्थशास्त्रियों ने यह भी पता लगाया है कि परिचालन-शोध (आपरेशन्स रिसर्च) की सहायता से कई कृषि-समस्याओं के समाधान निकाले जा सकते हैं। इस तकनीक की सहायता से उत्पादन में लगे साधनों की तुलनात्मक क्षमता का पता चल सकता है, जो इस समय की एक महत्वपूर्ण समस्या है।

मानकीकरण(स्टैंडर्डडाइज़ेशन) का भी कृषि के क्षेत्र में उपयोग किया जा

सकता है। कृषि-पैदावार, कृषि-यंत्र, बीज, खाद आदि के मानक तय कर देने से किसानों को अपनी ज़रूरत के अनुसार इन साधनों के चुनने में बड़ी आसानी हो जाएगी। कृषक ये जान जाएँगे कि किस ग्रेड की कौन-सी चीज़ पैदा करने से उन्हें अधिक-से-अधिक आय हो सकती है। भूमि और जलवायु की भिन्नता के कारण हर क्षेत्र के लिए साधनों तथा पैदावार की माँग में भिन्नता हो सकती है। अगर हम चाहते हैं कि इस भिन्नता के कारण कृषकों को अपनी आवश्यकता और पैदावार की वैज्ञानिक आधार पर जानकारी हो और बाजार में इसके बारे में स्पष्टता रहे, तो इसके लिए मानकीकरण टैकनीक की सहायता लेनी होगी। भारतीय मानक संस्थान (आइ० एस० आइ०) ने इस दिशा में काम शुरू भी कर दिया है।

इसी तरह औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादकता की एक दूसरी तकनीक अतः-संस्थान तुलना (इंटर फर्म कम्पेरीज़न) पर आजकल बहुत ज़ोर दिया जाता है। इसका उद्देश्य दो तरह की फर्मों के काम करने के तरीकों, कुशलता आदि का अध्ययन करके उनकी उत्पादकता बढ़ाने के लिए सुझाव देना है। यह तकनीक कृषि के क्षेत्र में भी लागू हो सकती है। खेती में इसे 'इंटर फर्म कम्पेरिजन' की जगह 'इंटर फार्म कम्पेरीजन' कह सकते हैं।

उत्पादकता-तकनीकों को कृषि के क्षेत्र में लागू करने की आवश्यकता पर अभी हमने विचार किया। अब संक्षेप में इस पर भी विचार करना चाहिए कि इन तकनीकों को लागू करने के लिए कैसे अनुकूल वातावरण बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सबसे मुख्य बात यह है कि जहाँ इन तकनीकों के विशेषज्ञों को कृषि के क्षेत्र में काम करने के लिए तैयार करना होगा, वहीं जिन क्षेत्रों में इन्हें लागू करना है वहाँ के लोगों का पूर्ण सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। इन तकनीकों के ज़रिए सुधार करने की बात जब कुछ जगहों पर चलाई जाती है, तो पहले से काम कर रहे अधिकारी या कर्मचारी इस आशंका में पड़ जाते हैं कि इससे उनके कार्यों के दोषों का विश्लेषण किया जाएगा और उनकी बदनामी होगी और इसलिए वे इसका विरोध करते हैं। लेकिन ऐसा होना नहीं चाहिए। उत्पादकता तभी बढ़ सकती है जब वर्तमान तरीकों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया जाए और उसमें निरंतर सुधार किए जाएँ।

एक दूसरी समस्या यह भी हो सकती है कि विशेषज्ञ, जो शहरी जीवन के अभ्यस्त हो गए हैं और ग्रामीण जीवन के विषय में बहुत कम बातें जानते हैं, ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने में संकोच करते हैं या अगर जाते भी हैं तो वहाँ की समस्याओं का बहुत सतही अध्ययन कर पाते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि ग्रामीण क्षेत्रों से विशेषज्ञों के सम्पर्क के लिए पर्याप्त अवसर दिए जायं। यदि

जरूरी हो, तो उन्हें विशेष सुविधा और प्रोत्साहन देकर ग्रामीण-क्षेत्रों में रहने के लिए तैयार भी किया जाय। कुछ दिक्कतें सभी ग्रामीण क्षेत्रों में छोटी-छोटी औद्योगिक इकाइयों के न रहने और टेकनीकल शिक्षा की कमी के कारण भी पैदा होती हैं। उन क्षेत्रों में, जहाँ खेती और उद्योग दोनों साथ-साथ विकसित हो रहे हैं, ऐसा देखा गया है कि वहाँ के लोगों का दृष्टिकोण काफी बदलता जा रहा है और वे नए तरीकों को अपनाने के लिए अधिक उत्सुक हैं। उत्पादकता-तकनीकों को भी लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय लोगों में सहयोग का रुख रहे। कठिनाइयाँ औद्योगिक क्षेत्रों में भी उत्पन्न हुईं, लेकिन धीरे-धीरे उन पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया गया। यदि उत्पादकता-विशेषज्ञ अपनी तकनीकों की सहायता से कृषि के क्षेत्र में काम कर रहे लोगों को यह विश्वास दिला सकें कि उत्पादकता-तकनीकों से उनकी कुशलता बढ़ेगी और अधिक पैदावार होगी, तो ये समस्याएँ अपने-आप ही हल हो जाएँगी।

: ६ :

कृषि-उत्पादकता और प्रोत्साहन

उत्पादकता बढ़ाने के कई तरीके हैं। इनमें प्रोत्साहन (इनसेंटिव) काफी महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि इसे उत्पादकता बढ़ाने की तकनीक के रूप में अब स्वीकार किया जाता है। प्रोत्साहन या बढ़ावा देने का अभिप्राय ऐसे कदम उठाने से है, जिनसे किसानों को उत्पादकता बढ़ाने लिए प्रेरित किया जा सके और वे इसके लिए प्रयत्न भी करें।

कुछ लोगों को आपने यह कहते सुना होगा कि हमारे देश के किसान अधिक पैदा करने की कोशिश ही नहीं करते, उनमें दूसरे देशों के किसानों की तरह ज्यादा-से-ज्यादा पैदा करके सुखी जीवन व्यतीत करने की इच्छा-शक्ति का ही अभाव है। वे खेती को गुज़र-बसर करने का एक ज़रिया समझते हैं और इसे लाभ-दायक धंधा नहीं बनाते। लेकिन ऐसी बातें करने वाले सम्भवत: इस मनोवैज्ञानिक सत्य को भी नहीं समझ पाते कि शायद ही कोई सामान्य व्यक्ति सुखी और समृद्ध जीवन की चाह न रखता हो। धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों से सब्र और सन्तोष की प्रवृत्ति दूसरे देश के लोगों के मुकाबले भारतीय किसानों में अधिक हो सकती है, लेकिन वे अपने जीवन में अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े, मकान, अच्छी शिक्षा अर्थात् एक अच्छे रहन-सहन के स्तर की इच्छा ही न रखते हों, ऐसा कहना वास्तविकता को न समझना है। अगर गहराई में जाकर इसका विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि अधिक पैदा करने की इच्छा की कमी या जो कुछ पैदा हुआ उससे सब्र या सन्तोष कर लेने की प्रवृत्ति कुछ लोगों के जीवन में निरंतर अभावों और मजबूरियों का सामना करने के कारण पैदा हो गई है। हमारा किसान अगर किसी चीज़ का शिकार है, तो उन मजबूर परिस्थितियों का, जिनमें बहुत हाथ-पैर मारने पर भी उसे कोई खास कामयाबी नहीं हासिल होती। हम यह मानते हैं कि कुछ लोग अकर्मण्यता के भी शिकार हैं, लेकिन फिर भी सदियों की दासता और गरीबी ने उन्हें इसलिए भाग्यवादी बना दिया है कि भाग्य कुछ लोगों का एकाधिकार बन के रह गया है और उस अच्छे भाग्य को उन्होंने भगवान का आशीर्वाद समझ रखा है। अत: अगर हम यह चाहते हैं कि हमारे किसान अधिक पैदा करें और

सुखी जीवन व्यतीत करें, तो फिर इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें ऐसी स्थिति में लाएँ जिसमें उन्हें अधिक पैदा करने के लिए प्रेरणा मिले और वे प्रयत्नशील हों।

यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि प्रोत्साहन या बढ़ावा एक व्यापक कार्यक्रम है और इसे सांस्थानिक परिवर्तनों से लेकर कृषि की सामान्य क्रियाओं तक हरएक क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। साथ ही, प्रोत्साहन कोई अलादीन का चिराग या जादू की छड़ी नहीं है कि इससे कृषि-उत्पादकता बढ़ाने की समस्या आनन-फानन में हल हो जाएगी। प्रोत्साहन-कार्यक्रमों को सही ढंग से बनाने, उन्हें लागू करने, इन सबमें पर्याप्त धन और कुशल प्रबन्ध की आवश्यकता होगी और इसमें समय लगेगा। लेकिन यदि कृषि-विकास के कार्यक्रमों को संचालित करने के पीछे प्रोत्साहन देने की बात बराबर ध्यान में रखी जाए तो हम वर्तमान कठिन परिस्थितियों से राहत पाने की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे। हर कार्यक्रम को बनाते समय इस सम्बन्ध में इतना जागरूक तो रहना ही पड़ेगा कि कम-से-कम ऐसा तो कोई भी कदम न उठाया जाए, जो प्रोत्साहन की भावना के विपरीत हो।

प्रोत्साहन कैसे दें, इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें सबसे पहले यह देखना होगा कि एक ऐसी योजना तैयार की जाए, जिसमें खेती का काम करने वाले सभी स्तर के किसानों को लाभ हो। अब तक सरकार द्वारा योजनाओं के अन्तर्गत खेती के विकास के लिए जो सुविधाएँ दी गई हैं, उनसे सभी किसान लाभ नहीं उठा पाए हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रोत्साहन-योजना इस तरह की हो कि वह हर तरह के किसानों को प्रभावित कर सके। मोटे तौर पर देखें तो एक ही गाँव में कुछ किसान ऐसे मिलेंगे, जो खेती के विकास की दिशा में कुछ-न-कुछ प्रयत्न कर रहे हैं और इसमें सुधार भी कर रहे हैं, परन्तु बहुत-से ऐसे हैं जिनके प्रयत्न नगण्य हैं। अतः यह आवश्यक है कि दोनों तरह के किसानों को प्रोत्साहन-योजना के अन्तर्गत लाया जाय। यदि कुछ किसानों के लिए पैदावार की अधिक कीमत हासिल करने की समस्या है, तो कुछ लोगों की समस्या बिखरे खेतों को एक जगह करके अपनी खेती को पुर्नगठित करने की है। इसी तरह कुछ के लिए भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में व्याप्त अनिश्चितता को समाप्त करने की ही समस्या है। अतः प्रोत्साहन-योजना ऐसी होनी चाहिए, जो सब तरह के किसानों को अपने दायरे में समेट ले। यह तभी सम्भव है जब प्रोत्साहन देने की योजना में कई तरह की सुविधाएँ प्रदान की जाएँ, ताकि किसानों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ इस योजना के अंतर्गत बड़े, मध्यम, छोटे सभी किसानों को प्रेरित करने की व्यवस्था हो सके।

प्रोत्साहन के तरीके

किसानों को किस रूप में प्रोत्साहन दिया जाए, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। मोटे तौर पर प्रोत्साहन के निम्न तरीके हो सकते हैं :—

१. भूमि-सुधार के कानूनों को सही ढंग से अमल में लाना।
२. कृषि-साधनों को समय से और आवश्यकता के अनुसार उपलब्ध कराना।
३. लाभदायक मूल्यों की गारन्टी।
४. फसलों के खराब होने तथा खेती-सम्बन्धी अन्य जोखिम के लिए बीमा योजना।
५. सामाजिक मान्यता तथा अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार देना।

प्रोत्साहन देने का एक बुनियादी और बहुत महत्वपूर्ण तरीका भूमि-सम्बन्धी कानूनों को किसानों के हित में बनाना और लागू करना है। हमारे देश में इस समय भी बहुत-से खेती करनेवाले स्वयं भूमि के मालिक नहीं हैं। वे बड़े या ऐसे किसानों से आधी फसल बाँटने के आधार पर भूमि जोतने के लिए ले लेते हैं जो स्वयं खेती नहीं करना चाहते। इसका नतीजा यह होता है कि भूमि के मालिक न होने के कारण वे उस ज़मीन में स्थायी सुधार नहीं कर पाते। कई राज्य सरकारों ने छोटी जोतों पर से कर समाप्त कर दिया है या समाप्त करने की घोषणा की है और कृषि-आय पर कर लगाने का निर्णय किया है। यद्यपि यह एक प्रशंसनीय कदम है, लेकिन फिर भी इससे उन किसानों को कोई लाभ नहीं होगा, जो दूसरे किसानों से ज़मीन लेकर जोतते-बोते हैं। असल समस्या तो ऐसे ही छोटे किसानों को प्रेरित करने की है। अगर भूमि-सम्बन्धी कानून ठीक तरह से लागू हो जाएँ, तो बड़े किसान, जो खुद खेती नहीं करते हैं या अपनी खेती का कुछ भाग दूसरों से कराते हैं, वे भी सतर्क हो जाएँगे। हमने अभी बताया है कि भूमि की स्वामित्व-सम्बन्धी निश्चिन्तता किसान को प्रेरित करने के लिए बुनियादी शर्त है, लेकिन सिर्फ इस शर्त को पूरा कर देने से ही उत्पादकता बढ़ जाएगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि छोटे किसान, जो अपनी भूमि के स्वयं मालिक हैं, उनकी उत्पादकता भी अभी बहुत कम है। लेकिन इस शर्त को पूरा करने से यह लाभ होता है कि दूसरे तरीकों से प्रोत्साहन देने के लिए अनुकूल आधार अवश्य बन जाता है। ऐसी स्थिति में जो किसान दूसरों की जमीन जोतते है, वे इस भय से आतंकित नहीं रहते कि जिस भूमि को वे जोत रहे हैं उसकी पैदावार का आधा हिस्सा एक ऐसा व्यक्ति ले लेगा, जिसने न तो कोई पूँजी लगाई है और न ही पैदावार के लिए मेहनत की है। भूमि का ऐसा मालिक पैदावार का आधा हिस्सा सिर्फ इसलिए

था जाता है कि जमीन उसके नाम से है। ऐसी स्थिति में किसान उत्पादकता बढ़ाने के लिए कभी भी कोशिश नहीं करेगा, क्योंकि बढ़ी हुई उत्पादकता का उचित लाभ उसे नहीं प्राप्त होगा।

जिन देशों में आबादी कम है और अभी काफी भूमि जोतने-बोने के लिए उपलब्ध है वहाँ भूमि-सुधार-सम्बन्धी कानून उतना महत्व नहीं रखते जितना भारत जैसे देश में जहाँ भूमि पर जनसंख्या का दबाव अधिक है। ऐसी स्थिति में भूमि-सुधार-सम्बन्धी कानून केवल सामाजिक न्याय की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं होते, बल्कि उत्पादकता बढ़ाने की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि ये कानून जोतने वालों को भूमि का मालिक बनाने के अलावा चकबन्दी करने, जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करने, भूमि-कर निश्चित करने आदि कई बातों से सम्बन्धित होते हैं, जिनका सीधा प्रभाव कृषि-उत्पादकता पर पड़ता है। उदाहरण के लिए भूमि की अधिकतम सीमा को ही लें। यह अधिकतम सीमा भूमि से अधिक-से-अधिक पैदा करने, खेती करने वालों को आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय देने, इन तीनों में से किसी आधार पर निश्चित की जाती है। भारत में इन तीनों विचारों को अधिकतम जोत की सीमा निश्चित करते समय ध्यान में रखना होगा। बहुत-से लोग सामाजिक उद्देश्य को महत्व नहीं देते। ऐसे लोग निहित स्वार्थ वाले ही हो सकते हैं। वे इतना भी नहीं समझते कि सामाजिक पहलू सामाजिक शान्ति की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही।

ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे किसानों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे देश में कृषि-उत्पादकता बढ़ाने की कोशिशें कृषि के क्षेत्र में प्रसार-सेवाओं के ज़रिए भी की गई हैं, लेकिन इन प्रसार-सेवाओं का प्रभाव इसलिए कम रहा है कि गाँव में कई स्तर के किसान हैं। कुछ जो दूसरों की भूमि जोतते हैं, कुछ जो अपनी और दूसरों दोनों की भूमि जोतते हैं, कुछ जो सिर्फ अपनी खेती करते हैं, लेकिन उनकी काश्त बहुत कम होती है, कुछ जो मध्यम दर्जे के किसान हैं, और कुछ ऐसे हैं जिनके पास काफी ज़मीन है। प्रसार-सेवाओं का असर इन सभी किसानों पर एक तरह का नहीं हो सकता। नतीजा यह होता है कि हर किसान को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता।

इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि भूमि-सुधार-कानूनों के ज़रिए उत्पादकता के प्रयत्न तब तक कामयाब नहीं होंगे जब तक गाँव में किसानों को सहकारी संस्थाओं के ज़रिये या इसी तरह की किसी दूसरी संस्था के ज़रिये संगठित नहीं किया जाता। किसी भी सहकारी संगठन को स्वेच्छा के आधार पर ही संगठित होना चाहिए, लेकिन इसके लिए उचित आधार तभी तैयार होगा

जब सभी किसान अपनी भूमि के बारे में निश्चित हों और इसके सम्बन्ध में निर्णय लेने का अधिकार रखते हों। छोटे ही किसान सही, लेकिन खेती को स्थायी और मुख्य पेशा बनानेवाले किसान ही उत्पादकता बढ़ाने में मदद दे सकते हैं, क्योंकि उनकी संख्या सबसे अधिक है। ऐसे किसान अपनी समस्या स्वयं हल नहीं कर सकते हैं और उन्हें किसी ऐसे संगठन की बराबर आवश्यकता रहेगी, जिनके ज़रिए वे एक-दूसरे की मदद ले सकें। अच्छे सहकारी संगठन इसके लिए बहुत ज़रूरी हैं। खेती के नए-नए तरीकों का निरंतर विकास हो रहा है और उत्पादकता बढ़ाने के लिए उन्हें अपनाना ज़रूरी है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब गांव में कोई ऐसी एजेंसी हो, जो किसानों की बराबर मदद कर रही हो और साधनों की व्यवस्था, किसानों की पैदावार को बेचने, बाहर भेजने आदि सम्बन्धी सभी कामों में उनकी सहायता कर सके। ऐसे संगठन सहकारी आधार पर ही चलाए जा सकते हैं। अतः यह ज़रूरी है कि भूमि-सुधार के कानूनों के ज़रिए प्रोत्साहन देने की कोई भी योजना इस तरह की हो कि वह किसानों को किसी ऐसे संगठन से सम्बद्ध करे। कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए गाँव में सहकारी प्रयत्नों को बढ़ावा देना होगा। किसी भी भूमि-सुधार कानून की सफलता को जाँचने की कसौटी यह होगी कि उसके द्वारा गाँव के छोटे किसानों की स्थिति को सुधारने में किस तरह सहायता मिलती है, उससे उत्पादकता किस हद तक बढ़ती है, और यह तभी सम्भव हो सकेगा जब किसानों की सामाजिक शक्ति का विकास हो। प्रोत्साहन-योजना का उद्देश्य सिर्फ व्यक्तिगत आधार पर किसानों को छिट-फुट सहायता देना न होकर एक ऐसी व्यवस्था के विकास का होना चाहिए, जिससे परस्पर सहयोग द्वारा कृषि-विकास के लिए सभी एक साथ प्रयत्न करें। अतः भूमि-सुधार का कार्यक्रम व्यापक कार्यक्रम के रूप में चलाया जाना चाहिए। इसका उद्देश्य किसानों को स्वावलम्बन की दिशा में ले जाना होना चाहिए; कोई किसान किसी पर आश्रित रहने की स्थिति में न रहे, ताकि परस्पर सहयोग के आधार पर मिलकर काम करने और उसके द्वारा सामूहिक शक्ति के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण बन सके।

साधनों की व्यवस्था

उत्पादकता बढ़ाने के उद्देश्य से किसानों को प्रेरित करने के लिए यह आवश्यक है कि खेती के विकास के लिए जो भी सुविधाएं या साधन उन्हें दिये जाते हैं या देने हैं, वे आसान शर्तों पर और समय से मिलें। सिंचाई, उन्नत बीज, उर्वरक, तकावी आदि साधन किसानों को इस तरह मिलने चाहिए कि उन्हें कोई कठिनाई न महसूस हो और वे इनके इस्तेमाल के लिए बराबर उत्साहित रहें। खेती के

साधनों की कमी बराबर बनी हुई है। आज से १५ साल पहले उर्वरक, उन्नत बीज, कृषि-यंत्रों आदि की जितनी मांग नहीं थी उससे कई गुनी मांग इस समय है। इससे यह बात जाहिर होती है कि किसानों की इन चीजों के लिए मांग इनकी पूर्ति के मुकाबले ज्यादा हो रही है। इसलिए जब साधनों की पूर्ति में विलम्ब और कठिनाइयां होती हैं, तो किसानों में उत्साह की जगह निराशा ही पैदा होती है। पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के कुछ गांवों के सर्वे के बाद यह पाया गया कि धीरे-धीरे ज्यादा-से-ज्यादा संख्या में खेती के साधनों की मांग हो रही है। लेकिन साधनों की पूर्ति में बड़ी कठिनाई हो रही है। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के प्रगतिशील किसान तो यह कहने लगे हैं कि उन्हें तकावी या ऋण की जितनी जरूरत नहीं है, उससे कहीं अधिक उन मशीनों और साधनों की है जिनकी पूर्ति की आशा वे सरकार या उद्योगों से रखते हैं। वे चाहते हैं कि उन्हें उनकी मांग के अनुसार खेती की चीजें मिलती रहें। अक्सर देखा गया है कि उन्हें कृषि-यन्त्र या ऐसी ही अन्य चीजें जिस तरह की वे चाहते हैं वैसी नहीं मिलतीं। रूसी ट्रैक्टर की मांग होती है तो उसकी पूर्ति समय से नहीं होती या किसी दूसरी तरह के ट्रैक्टर लेने का परामर्श दिया जाता है। खेती के बहुत-से औजार, देश के सभी भागों में एक जैसे उपयोगी नहीं हो सकते। स्थान-स्थान की आवश्यकताओं के अनुसार उनकी डिजाइनों में परिवर्तन की आवश्यकता है। भारत सरकार के कुछ विभाग इन डिजाइनों के यन्त्र बनाने में लगे भी हैं, लेकिन फिर भी किसानों की आवश्यकताओं की पूर्ति जिस तरह की होनी चाहिए वैसी नहीं हो पा रही हैं। इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

ऋण की समस्या को ही लें। उत्पादकता के साधनों पर विचार करते समय इस सम्बन्ध में पहले विचार किया गया है। यहाँ इतना ही दुहराना पर्याप्त होगा कि भारत के किसानों को खेती के विकास के लिए ऋण की आवश्यकता बराबर रहेगी। अतः उन्हें ऋण मिलना ही चाहिए, लेकिन यदि किसानों की आवश्यकता, उसके उपयोग, ऋण किस उद्देश्य से मांगा जा रहा है और आगे मांगा जाएगा आदि के विषय में पहले से ही पूरी बातों की जानकारी न रखी जाए तो समय से ऋण प्राप्त होने और उसके लिए वित्तीय प्राविधान में तरह-तरह की कठिनाइयां होती हैं। इसके अतिरिक्त सड़कों, यातायात, विपणन, कृषि-सम्बन्धी सूचनाओं आदि सम्बन्धी सुविधाएं भी इस तरह बढ़ाई जानी चाहिए कि किसानों को उत्पादकता बढ़ाने के लिए उचित अवसर मिले। यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कभी-कभी किसानों को सुविधाएं जुटाने के नाम पर उनकी जरूरतों के आकार, प्रकार और समय का ध्यान नहीं रखा जाता।

लाभदायक मूल्य

कृषकों को बढ़ावा देने के लिए लाभदायक मूल्य की गारंटी देना सरकार की मूल्य-नीति का अंग होना चाहिए। मूल्य-स्तर में भारी उतार-चढ़ाव का कृषि-उत्पादकता पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। ऊंचे मूल्य कृषि-उत्पादकता के बढ़ाने के लिए किसानों को प्रेरित करते हैं। इस समय खाद्यान्नों के भाव काफी ऊंचे चढ़ गए हैं और ऐसे किसान, जिनके पास अपने उपभोग से अधिक अनाज बाजार में बेचने के लिए बच रहा है, खेती से अच्छी आमदनी करने लगे हैं। लेकिन देहाती क्षेत्रों में जहां राशनिंग नहीं है, या है भी तो उससे बहुत कम लोग लाभान्वित होते हैं, वहां मध्यम वर्ग तथा मजदूर वर्ग के लोग परेशानी में हैं कि गल्ले की कीमतें बहुत बढ़ गई हैं और उन्हें उसके लिए अपनी आमदनी का बहुत बड़ा अंश खर्च करना पड़ता है। इस कठिनाई को देखते हुए यदि कृषिगत वस्तुओं के मूल्य को काफी नीचे किया जाए तो उससे खेती के व्यवसाय के अलाभप्रद होने का खतरा उत्पन्न हो जाएगा और किसानों को प्रेरित करने का उद्देश्य कभी भी पूरा नहीं होगा। इस समय भी बहुत-से किसानों की यह शिकायत है कि सरकार द्वारा गल्ला-वसूली के लिए जो कीमतें निश्चित की गई हैं, वे कम हैं और उससे किसान को कोई बढ़ावा नहीं मिलता। कुछ अर्थशास्त्रियों का यह भी कहना है कि भले ही मौसम के विपरीत होने के कारण अस्थायी तौर पर इस समय कीमतें बढ़ गई हैं, लेकिन वे स्थिर नहीं हैं और यदि अन्य वस्तुओं की कीमत में हुई वृद्धि की दर को देखा जाए तो कृषिगत वस्तुओं की कीमत उतनी नहीं बढ़ी है जितनी दूसरी चीजों की बढ़ी है। ऐसी स्थिति में मुख्य प्रश्न यह है कि किस तरह कीमतों को ऐसे स्तर पर रखा जाए कि किसानों को लाभदायक मूल्य मिलता रहे और उपभोक्ता भी सन्तुष्ट रहें। प्रेरणादायक मूल्य इन दो बिन्दुओं के बीच ही निश्चित होना चाहिए, वर्ना आर्थिक सन्तुलन को कायम रखना बहुत कठिन हो जाएगा। यह सही है कि उत्पादकों के साथ ही उपभोक्ताओं का खयाल भी हर समय रखना होगा, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उपभोक्ताओं को सन्तुष्ट करने के लिए हम उत्पादकों का ध्यान न रखें। जब तक अधिक उत्पादकता के लिए कृषकों को उत्साहित नहीं किया जाता तब तक उपभोक्ताओं की कठिनाई भी बराबर बनी रहेगी। काफी समय तक हमारी कृषि-नीति ऐसी रही है, जिसमें मूल्यों को स्थिर करते समय उपभोक्ताओं की ओर तो ज्यादा हमदर्दी रही है, लेकिन उत्पादकों की ओर कम। इधर सरकार ने इस बात को महसूस किया है कि प्रेरणादायी मूल्यों की स्थिरता उत्पादकता बढ़ाने के लिए आवश्यक है।

अर्थशास्त्रियों ने विश्लेषण के बाद यह देखा कि हमारे देश में कृषिगत

वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव औद्योगिक क्षेत्र से पैदा की गई चीजों के मूल्य के उतार-चढ़ाव के मुकाबले अधिक तेज़ी से होता है। इस समय कृषिगत वस्तुओं के उत्पादन और पूर्ति में कमी के कारण उनकी कीमत काफी बढ़ी है और उत्पादकों को कृषि का कार्य लाभप्रद भी लग रहा है, लेकिन जहां उत्पादन में वृद्धि हुई, वहाँ कीमतें गिरने लगती हैं और किसान को प्रेरणादायी मूल्य नहीं मिलता। राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् ने भी जो सर्वे किए उनसे यह पता चला कि जब भी अच्छी फसलें पैदा हुईं, कीमतें गिरी हैं। ये कीमतें कभी-कभी इस हद तक गिरी हैं कि अधिक उत्पादकता से किसानों को स्वयं कोई लाभ नहीं हुआ।

कृषि के क्षेत्र में किये गए शोध-कार्य के आधार पर विशेषज्ञों ने यह पाया है कि खेती की लागत में निरन्तर वृद्धि हो रही है। बहुत-से किसानों की खेती की लागत इतनी अधिक है कि उनकी पैदावार से होने वाली आमदनी से उन्हें कोई खास लाभ नहीं है। डॉक्टर सी० एच० हनुमन्त राव ने 'एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन फंक्शन्स, कॉस्ट एण्ड रिटर्न्स इन इण्डिया' शीर्षक अपनी पुस्तक में बताया है कि देश के सात राज्यों के सर्वे के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यदि बैल, बीज, खाद, उर्वरक, कृषि-यन्त्र एवं उपकरणों की मरम्मत, घिसावट, प्रबन्ध, श्रम और पूंजी सभी का खर्च जोड़ने के बाद खेती की लागत निकाली जाए, तो कहा जा सकता है कि बहुत-से किसान खेती के व्यवसाय से कोई लाभ नहीं ले रहे हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि वे इस व्यवसाय से इसलिए चिपके हुए हैं कि उनके जीवन-निर्वाह का यही एकमात्र साधन है और वे इसे छोड़ दूसरा कुछ कर भी नहीं सकते या ऐसे किसान खेती इसलिए कर रहे हैं कि उनके पास आय के दूसरे जरिये हैं, जिनसे उन्हें लाभ है। यह स्थिति निश्चय ही चिन्ता का कारण है। खेती से आमदनी बढ़ेगी तभी लोग उत्पादकता बढ़ाने की कोशिश करेंगे। गांवों में जाकर हमने यह देखा है जहां एक की जगह दो और दो की जगह तीन फसलें पैदा करने की सुविधाएं दी गई हैं और किसान पैदा भी करने लगे हैं वहां उनमें एक नया जोश पैदा हो गया है। इसका एकमात्र कारण यही है कि जहां पहले उनको खेती से कम आमदनी होती थी वहां अब अधिक होने लगी है। यदि उनकी पैदावार की उचित कीमत की गारन्टी रहे तो वे अपने इस प्रयत्न के लिए प्रोत्साहन पाएंगे और दूसरे किसान भी उनका अनुकरण करेंगे। इससे खेती के क्षेत्र में पूंजी-निर्माण और सघन खेती के लिए उपयुक्त प्रोत्साहन मिलेगा और खेती को गुजर-बसर के स्तर से व्यावसायिक खेती की स्थिति में लाने में सफलता मिलेगी।

इन सभी पहलुओं पर विचार करने के बाद हम जिस नतीजे पर पहुंचते हैं वह यह है कि किसानों से उत्पादकता बढ़ाने की आशा तभी की जा सकती है जब

उन्हें उनकी पैदावार का लाभदायक मूल्य मिले। अत: मूल समस्या कीमतों को इसी उद्देश्य से निश्चित करने और उन्हें ऐसे बिन्दु पर बनाए रखने की है कि उनसे कृषकों को उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रेरणा मिले।

दूसरी योजना के अन्त तक सरकार ने कृषिगत वस्तुओं के मूल्यों को उचित स्तर पर रखने को विशेष महत्व नहीं दिया, लेकिन बाद में १९६४ में इस ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ। उसी साल यह तय हुआ कि यदि गेहूं या चावल की कीमत एक न्यूनतम स्तर से नीचे जाएगी तो सरकार इमदादी कीमत (सपोर्ट प्राइस) की व्यवस्था करेगी। १९६५ में एग्रीकल्चरल प्राइस कमीशन की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य कृषिगत वस्तुओं के मूल्यों पर दृष्टि रखना तथा उन्हें किसानों के हित में निश्चित करने के लिए सरकार को परामर्श देना है। लेकिन कमीशन को कीमतों के स्थिर करने के बारे में सही परामर्श देने के मार्ग में कई व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है और आगे भी करना पड़ेगा। इनमें दो मुख्य दिक्कतें सामने आती हैं। पहली बात तो कृषि-कार्य के लागत-सम्बन्धी आंकड़ों को एकत्रित करने और उन्हें निश्चित करने की और दूसरी व्यावहारिक कठिनाई है मूल्य को उपभोक्ताओं के हक में निश्चित करने की। लेकिन यदि कमीशन निम्न बातों को अपनी कार्यप्रणाली का आधार माने और उसके अनुसार कार्य करे तो बहुत हद तक ये कठिनाइयां हल हो जाएंगी :

१. कमीशन जो इमदादी कीमत (सपोर्ट प्राइस) तय करे वह उत्पादन-लागत के आधार पर हो। साथ ही, यह मूल्य भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की परि स्थितियों के अनुरूप हो। जहाँ लागत अधिक हो वहाँ यह ज़्यादा निश्चित हो और जहाँ लागत कम हो, वहाँ कम।

२. मूल्य ऐसे हों जो खेतिहर श्रमिकों को उचित मज़दूरी देने के लिए किसानों को उत्साहित करें और किसान स्वयं एक अच्छे रहन-सहन के स्तर को व्यतीत करने की स्थिति में हों।

३. कमीशन सरकार द्वारा उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए भी परामर्श दे। खाद्यान्नों या अन्य कृषिगत वस्तुओं की कीमतों के बढ़ने से सामान्य जनता की परेशानी बढ़ती है। सरकार गल्ला-वसूली करके, वितरण-व्यवस्था को अपने नियंत्रण में लेकर या उस पर अपना अधिक नियंत्रण रखकर, अपने कोष से अधिक कीमत देकर तथा उपभोक्ताओं को छूट देकर उनके हितों की रक्षा कर सकती है।

किसानों को लाभदायक या प्रेरणादायक मूल्य देने के क्षेत्र में कृषि-मूल्य निगम को बहुत गुरुतर एवं महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सम्भालना है।

फसल बीमा योजना

कृषकों को प्रोत्साहन देने में फसल बीमा योजना एक कारगर कार्यक्रम है। इसका उद्देश्य मौसम की अनिश्चितता और दूसरी प्राकृतिक विपत्तियों से पैदा हुए संकट से किसानों को बचाना है।

खेती उद्योग के मुकाबले परिस्थितियों, मौसम आदि पर अधिक निर्भर हैं। ओला, सूखा, पाला, बाढ़, बीमारियों आदि से हर साल देश में कहीं-न-कहीं फसलों को नुकसान होता ही है। बावजूद सभी वैज्ञानिक कोशिशों के खेती मौसम के खराब और अच्छा होने पर हरदम कुछ-न-कुछ निर्भर करती रहेगी। कृषि और उद्योग दोनों ही व्यवसाय हैं, लेकिन दोनों व्यवसायों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। जहाँ वर्षा, बाढ़, आंधी, ओले, आदि से खेती १०० प्रतिशत तक बर्बाद हो सकती है, वहाँ उद्योगों पर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। हाँ, यहाँ उन उद्योगों की बात नहीं की जा रही है जो कृषि से अपने लिए कच्चा माल लेते हैं या उसकी पूर्ति के लिए सामान तैयार करते हैं। प्रकृति पर अधिक आश्रित होने के कारण खेती का अच्छा-खराब होना मौसम और अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। भारत के किसान खेती की अनिश्चितता से बराबर नुकसान उठाते रहे हैं। १९६५ और १९६६ के दो वर्षों में जो भयंकर सूखा देश के कई भागों में पड़ा है उससे खेती को सबसे अधिक नुकसान हुआ है और पैदावार बहुत कम हो गई है। सूखा के कारण लगातार कई फसलें बोई ही नहीं गईं। किसी क्षेत्र में ज्यादा वर्षा हो जाती है तो इससे भी निचली जमीनों में पानी भर जाता है। इससे पहले से बोई गई फसल तो नष्ट होती ही है, पानी जब ज्यादा समय तक रुक जाता है तो आगे की फसल भी देर से बोई जाती है या उसके बोने का अवसर ही नहीं आता। इससे कृषकों को भारी नुकसान उठाना पड़ता है। चौथी पंचवर्षीय योजना के मसविदे में भी इस ओर संकेत किया गया है। "सूखा, बाढ़ तथा अन्य प्राकृतिक विपत्तियों के कारण किसानों की फसल नष्ट होने से वे भारी विपत्ति में फँस जाते हैं। अब बड़े पैमाने पर उर्वरक, कीड़े मारने की दवा, उन्नत बीज तथा अन्य साधनों में अधिक धन लगाने तथा अधिक पैदावार करने वाली किस्मों के कार्यक्रमों में यह खतरा और भी बढ़ गया है। प्राकृतिक विपत्तियों के पैदा होने वाले संकटों को कम करने के लिए फसल बीमा योजना एक कारगर एवं महत्वपूर्ण योजना है।"

अनुमान है कि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण देश में फसलों को जो नुकसान है, वह १००० करोड़ रुपए प्रति वर्ष तक होता है। ऐसी स्थिति में किसानों को इस बात का आश्वासन देना आवश्यक है कि उनकी फसलों को होने वाले

नुकसान की पूर्ति की जाएगी। यदि ऐसा नहीं हुआ तो किसानों को उत्पादकता बढ़ाने के लिए तैयार करना बहुत कठिन होगा। आज जब उनसे खेती के बिलकुल नए तरीकों, उर्वरकों, बीज आदि के इस्तेमाल के लिए कहा जा रहा है और वे उन्हें अपनाने भी लगे हैं उस समय कृषि के क्षेत्र में जोखिम भी बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में होने वाले नुकसान की क्षतिपूर्ति फसल बीमा द्वारा ही सम्भव है। कुछ समय पहले योजना आयोग द्वारा नियुक्त अध्ययन-दल ने पंजाब में हुए फसल बीमा के कुछ प्रयोगों की सराहना की थी और दूसरे राज्यों में भी मार्गदर्शी (पाइलाट) योजना के रूप में इसके प्रसार का सुझाव दिया था।

फसल बीमा योजना द्वारा दूसरे देशों में किसानों को प्रोत्साहन देने में भारी सफलता मिली है। सोवियत रूस में तो फसल बीमा अनिवार्य है। अमेरिका में फसल बीमा स्वैच्छिक है, लेकिन फिर भी स्वेच्छा से ही इसे अधिकांश कृषक अपनाते हैं। जापान में फसल बीमा की यह विशेषता है कि किसान को प्रीमीयम का कुछ अंश ही देना होता है और शेष सरकार स्वयं देती है। फसल बीमा योजना इन देशों में मोटे तौर पर इन चार खतरों से सुरक्षा के लिए चालू हुई है—१. आग और बिजली, २. बाढ़, ३. ओले, और ४. अन्य जोखिम।

यद्यपि हम सभी चाहेंगे कि फसल बीमा योजना को किसानों की भलाई की दृष्टि से जल्दी लागू किया जाय, लेकिन इस सम्बन्ध में जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, उन्हें भी हल करना होगा। खेतों के टुकड़ों में बंटे रहने और बाद में बँटते जाने के कारण इसमें कई तरह की दिक्कतें पैदा होंगी। सबसे बड़ी कठिनाई तो फसल के नष्ट होने के सही अनुमान लगाने के बारे में हो सकती है, क्योंकि खेती के अन्तर्गत क्षेत्र, फसलों, प्रति एकड़ औसत उत्पादन, प्राकृतिक कारणों से हुए नुकसान आदि के बारे में सही आँकड़े ही उपलब्ध नहीं रहते। साथ ही, जो लोग खेत के मालिक हैं, लेकिन खेत बटाई या अधिया पर दूसरे को जोतने को देते हैं, उनमें बीमा कराने वाला कौन व्यक्ति होगा, इसमें भी कठिनाई पैदा होगी। साथ ही, यह प्रश्न भी उठ सकता है कि फसल बीमा स्वेच्छिक हो या अनिवार्य। यदि स्वेच्छिक होगी तो शायद बहुत-से छोटे किसान इससे लाभ ही न उठा सकें। ऐसी स्थिति में सभी समस्याओं पर किसी विशेषज्ञ समिति को गौर करके ही कोई योजना तैयार करनी चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान सरकार ने इस स्कीम को लागू करने के लिए १०० करोड़ रुपये से फसल बीमा कोष के निर्माण करने का संकेत योजना के मसविदे में दिया है। यदि यह योजना सफल हुई तो इससे खेती के काम में किसानों को बहुत बड़ा बल प्राप्त होगा और उनमें स्वावलम्बन की भावना पैदा होगी।

सामाजिक प्रोत्साहन

प्रोत्साहन देने के विभिन्न तरीकों में आर्थिक तरीके के अतिरिक्त सामाजिक ढंग भी हैं। अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे देश में खेती में लगे लोग अपने पेशे को अब उतना सम्मानपूर्ण नहीं समझते जैसा कि पहले यह व्यवसाय समझा जाता था। आपने गाँवों में यह उक्ति सुनी होगी :

उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख निदान

लेकिन किसी समय में यह बात ठीक थी। अब वाणिज्य प्रथम है, चाकरी का दूसरा स्थान और खेती का तीसरा स्थान हो गया है। अलग-अलग लोगों की दृष्टि से देखें तो अपवाद हो सकते हैं, लेकिन गाँव वाले यह समझते हैं कि जो सरकारी हाकिम बन जाते हैं और जो बिजनेस करते हैं वे सबसे बड़े हैं। वैसे सबसे बड़ा तो रुपया ही है, अर्थात् जिसके पास धन है वह सामाजिक मान्यता बड़ी आसानी से पा जाता है, लेकिन खेती के प्रति हेय दृष्टि का उत्पन्न होना, उसे तुच्छ व्यवसाय समझना, यह किसी भी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि इस तरह के दृष्टिकोण के बनने के कारण रहे हैं, विशेषत: ब्रिटिश हुकूमत के समय से; क्योंकि उसके बाद सरकारी विभागों के लोग बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए और उनकी शान-शौकत, रोबदाब से गांव के लोग आक्रांत होते रहे, लेकिन स्वतंत्र भारत में किसान को उसका महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना ही चाहिए। आज एक अजीब-सी स्थिति पैदा हो गई है कि ऐसे परिवारों के युवक, जिनके पास काश्त के लिए ज़मीन है, जो एक अच्छे जीवन-स्तर को खेती से ही बनाए रख सकते हैं, वे भी नौकरी या व्यापार को अधिक महत्त्व देते हैं। इसका परिणाम यह है कि गांवों से शिक्षित युवकों का बराबर नगरों की ओर पलायन हो रहा है और जिस तरह के लोगों की गांवों में वैज्ञानिक खेती के लिए ज़रूरत है, वे वहाँ से निकलते जा रहे हैं। यद्यपि इस पालायन के पीछे आर्थिक कारणों के अतिरिक्त शहरों में मिलने वाली सुविधाएँ भी हैं, लेकिन यह बात भी बहुत हद तक सही है कि आजकल खेती का पेशा युवकों के लिए उतना आकर्षक नहीं रहा जितना उसे होना चाहिए। जब एक शिक्षित युवक को खाद, बीज आदि के लिए विकास-खण्डों में कई बार चक्कर लगाने पड़ते हैं, उसे अपने खेतों के कागज़ों को दुरुस्त रखने और उनसे संबंधित विवादों के लिए अदालतों के क्लर्कों के पीछे दौड़ना पड़ता है, तो उसे लगता है कि वह क्यों न ऐसा पेशा करे जहाँ ऐसी कठिनाइयाँ सामने आएं ही न। शिक्षा भी कुछ ऐसी हो गई है कि शिक्षित व्यक्ति अच्छे वस्त्र पहनने और शहरों में रहने को गाँवों की धूल-मिट्टी में रहने, धोती-कुर्ता पहनने के मुकाबले ज्यादा अच्छा समझते हैं। इसके साथ ही गाँवों में नागरिक सुविधाएँ भी उतनी नहीं उपलब्ध हैं जितनी

शहरों में। फिर गांवों में सम्पत्ति की उतनी सुरक्षा भी नहीं है जितनी नगरों में।

अतः जब हम सामाजिक प्रोत्साहन देने की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय यह रहता है कि खेती को लोग एक सम्मानित पेशे की दृष्टि से देखें तथा गाँवों में ऐसी सुविधाएँ उपलब्ध हों कि खेती करने के लिए लोग वहाँ रहें। लेकिन यह एक कठिन काम है। इसके लिए सबसे आवश्यक शर्त तो यही है कि खेती निर्वाह-स्तर या गुजर-बसर के साधन के स्तर से ऊपर उठे और व्यावसायिक स्तर तक पहुँचे अर्थात् वह एक लाभदायक धंधा बने, लेकिन इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में नागरिक सुविधाओं की व्यवस्था भी होनी चाहिए। थोड़ी-बहुत प्रगति इस दिशा में हुई भी है, लेकिन अभी वह बिलकुल ही अपर्याप्त है। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक कारणों या मनोवृत्ति का प्रश्न है, इसमें कोई भी परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे ही होगा। यदि पहली दो शर्तें अर्थात खेती लाभदायक धंधा हो जाय और गाँव में मनोरंजन, चिकित्सा, शिक्षा आदि की पर्याप्त सुविधाएँ हो जाएं, तो इस मनोवैज्ञानिक या मनोवृत्ति-सम्बन्धी परिवर्तन के लिए भी उपयुक्त वातावरण बनेगा। साथ ही अफसरशाही की प्रवृत्ति को भी समाप्त करना होगा। स्वतन्त्र भारत में किसान ही सबसे महत्त्वपूर्ण है, यह विचार केवल नारा न रहे, इसे व्यवहार में भी लाया जाय। खेती के काम में प्रशंसनीय कार्य करने वाले किसानों को समय-समय पर पुरस्कार देकर, उन्हें सम्मानित उपाधियों जैसे कृषि पण्डित आदि से विभूषित करके, अधिक उत्पादन करने वाले कृषकों को भारत-यात्रा आदि की सुविधा देकर, रेडियो, समाचार-पत्रों आदि द्वारा उनकी सफलता की कहानियां प्रसारित एवं प्रकाशित करके तथा इस तरह के दूसरे तरीकों से केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें कृषकों को सामाजिक प्रोत्साहन दे रही हैं, लेकिन अभी इसके लिए बड़े पैमाने पर कार्य करने की आवश्यकता है। अच्छा हो, यदि प्रोत्साहन के लिए व्यक्ति को न चुनकर उसके परिवार को इसके लाभ पहुँचाए जाएं। उदाहरण के लिए अगर कोई कृषक उत्तम खेती या पैदावार के लिए पुरस्कार पाता है, तो यह पुरस्कार ऐसा भी हो कि उसके बच्चों को अच्छी शिक्षा या छात्रवृत्ति के रूप में भी कुछ प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त जिले तथा विकास-केन्द्रों में ऐसे प्रगतिशील किसानों के चित्र, पोस्टर आदि भी प्रदर्शित किए जा सकते हैं। साथ ही, पुरस्कृत करने का आधार उत्पादन बढ़ाने का न रखकर, धीरे-धीरे उत्पादकता बढ़ाने का होना चाहिए। इससे कृषकों में कम लागत पर ज्यादा पैदावार लेने का हौसला बढ़ेगा।

: १० :

कृषि-उत्पादकता : सामुदायिक विकास योजना तथा सहकारी संगठन

कृषि-उत्पादकता बढ़ाने में सामुदायिक विकास-योजना तथा सहकारी आन्दोलन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इन दो संगठनों के ज़रिए ही ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश कृषि-कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं और जब तक इन्हें मज़बूत आधार पर संगठित नहीं किया जाता, कृषि-उत्पादकता बढ़ाने का आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।

सामुदायिक विकास-योजना

गाँवों के बहुमुखी विकास के उद्देश्य से २ अक्तूबर, १९५२ को सामुदायिक विकास-योजना पहले देश के सिर्फ ५४ विकास-खण्डों में प्रारम्भ हुई थी और धीरे-धीरे इसका विस्तार होता गया। इस समय देश के सभी गांव सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत अब तक आ चुके हैं। इस योजना की उपलब्धियों पर यदि विचार करें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में खेती के नए तरीकों के प्रचार तथा उनके ज़रिए पैदावार बढ़ाने में इस योजना ने महत्वपूर्ण कार्य किया है; लेकिन जब यह प्रश्न उठता है कि यह कार्य कितने समय में और किस लागत पर किया गया है, तो फिर इसकी उपलब्धियों पर संतोष नहीं होता। साथ ही, कृषि के कार्यक्रमों में जिस हद तक सफलता की आशा की गई थी उस हद तक सफलता न मिलने का एक कारण यह भी रहा है कि सामुदायिक विकास-योजना अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्ण सफल नहीं हुई है।

ग्रामीण क्षेत्रों में खेती के विकास-कार्यक्रमों को बड़े पैमाने पर चलाने के लिए किसी एजेन्सी के न रहने के कारण इस योजना के अन्तर्गत खुलने वाले विकास-खण्डों और उसके अधिकारियों व कर्मचारियों ने गाँवों में जो रिक्तता थी और टेकनीकल जानकारी देने वाले संगठनों का अभाव था उसकी पूर्ति काफी हद तक की है, लेकिन फिर भी आर्थिक उपलब्धियों की दृष्टि से पूरी सफलता नहीं मिली। यह सही है कि कृषि के नए तरीकों और कार्यक्रमों को गाँवों में कुछ लोगों

ने अपनाया है, लेकिन सभी लोगों तक इस योजना के लाभ पहुँच सके हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस दिशा में सफलता न मिलने के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें एक मुख्य कारण यह रहा है कि इस योजना के अन्तर्गत विकास के लिए इतना व्यापक क्षेत्र चुन लिया गया कि एक खास कार्यक्रम पर विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका। कृषि-विकास के लिए सामुदायिक योजना को अब जिस प्रकार संगठित किया जा रहा है, यदि प्रारम्भ से ही इस पर बल दिया गया होता, तो इसके कहीं अच्छे नतीजे हासिल हुए होते। यह सही है कि शिक्षा, सामाजिक कल्याण, स्वास्थ्य, यातायात, घरेलू उद्योग-धंधे आदि भी ग्रामीण विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं, लेकिन खाद्यान्न की समस्या सबसे बुनियादी है और जबतक पैदावार बढ़ाकर इसे हल नहीं किया जाता, दूसरे क्षेत्रों में किये गए विकास के फ़ायदों का भी एहसास नहीं हो सकता।

इस योजना को अधिक कारगर बनाने के लिए इसके अन्तर्गत कार्य कर रही एजेन्सियों और उसके स्टाफ को कुशल बनाना बहुत आवश्यक है। योजनाएँ बहुत अच्छी हो सकती हैं, बीज, खाद, पानी आदि के वितरण के अच्छे-से-अच्छे कार्यक्रम बन सकते हैं, इनकी पूर्ति भी बढ़ाई जा सकती है; लेकिन जब तक उन्हें समय से और खेती करने वाले हर एक परिवार के पास पहुंचाया न जाए, तबतक उससे कोई खास लाभ नहीं है। सभी जगह तो नहीं, लेकिन कई जगहों पर यह शिकायत बराबर रही है कि साधनों के वितरण में विलम्ब हुआ है। इन विभागों की प्रगति के जो आंकड़े दिए जाते हैं, वे गणित की दृष्टि से ठीक होते हैं, लेकिन उन्हें निर्धारित समय से हासिल किया गया है तथा उसका जितना लाभ उठाना था, उतना प्राप्त हुआ या नहीं, इस पर भी ध्यान रखना चाहिए। कुछ राज्यों ने कृषि के क्षेत्र में काम कर रहे बी० डी० ओ०, ए० डी० ओ० आदि स्टाफ को हटाने के लिए कदम उठाने की बात चलाई है। ऐसा इसलिए ही सोचा जा रहा है कि इस स्टाफ की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः यदि इस स्टाफ का काम पहले से ही अच्छी तरह संगठित किया गया होता तो आज यह स्थिति नहीं उत्पन्न होती।

सामुदायिक विकास-योजना के अन्तर्गत अनेक विभाग कार्य करते हैं। उच्च स्तर पर इन सबके कार्यों को नियोजन विभाग संचालित करता है। सबके लिए विशेषज्ञ रखे गए हैं। कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग आदि के क्षेत्र में काम करने वाले विभागों के अधिकारी ब्लाक स्तर तक और गाँव स्तर तक फैले हुए हैं। लेकिन एक दिक्कत बराबर रही है कि इन विभिन्न विभागों में तालमेल या समन्वय का बराबर अभाव रहा है। यद्यपि पहले की अपेक्षा इस दिशा में सुधार अवश्य हुआ है, लेकिन फिर भी तकनीकी और प्रशासनिक मामलों को लेकर

बराबर खींचतान बनी रहती है। एक विभाग दूसरे पर असफलताओं की जिम्मेदारियों को थोपता रहता है। इससे कागज़ी कार्य भी बढ़ता जाता है। एक ही उद्देश्य से सभी काम करें, यह बात कम जगह देखने को मिलती है। यदि इस दिशा में सफलता कहीं मिली है तो सिर्फ वहाँ जहाँ जिलाधीश या डिवीजनल कमिश्नर कुशल हैं और वे विभिन्न विभागों को एक साथ लेकर चल सकते हैं। किसी भी कार्यक्रम की सफलता उसके प्रबन्ध और प्रशासन की जिम्मेदारी है।

सबका विकास

सामुदायिक विकास का अर्थ है पूरे समाज का विकास, लेकिन सामुदायिक विकास-योजनाएँ समाज के सभी वर्गों को आगे नहीं बढ़ा सकी हैं। अब तक इस योजना के प्रभाव के बारे में जो अध्ययन किये गए हैं, उनसे यह पता चला है कि समाज के सभी वर्गों पर इसका एक-सा असर नहीं पड़ा है और अधिकतर बड़े तथा मध्यम किसानों ने ही इसका लाभ उठाया है। जो किसान दूसरे से खेत लेकर बँटाई पर बोते हैं या जिनके पास बहुत कम खेत हैं, उन्हें ऋण देने की व्यवस्था नहीं रही है और उनको विकास-कार्यक्रमों से खास लाभ नहीं हुआ है। कृषि-कार्यक्रमों के जो लक्ष्य निश्चित किए जाते हैं, वे गाँव के कुछ किसानों की सहायता से प्राप्त कर लिये जाते हैं और सभी किसानों को लाभ नहीं होता। सामुदायिक योजनाओं के कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए सिर्फ यही पता लगा लेना काफी नहीं होगा कि निर्धारित लक्ष्य हासिल कर लिए गए हैं या नहीं? इसकी सफलता के मूल्यांकन के लिए यह देखना भी आवश्यक होगा कि इसे कितने किसानों ने किस हद तक अपनाया और क्या इसका प्रभाव समाज के सभी वर्गों पर पड़ा? सामुदायिक विकास-योजनाओं के कार्यक्रमों के मूल्यांकन के बारे में विशेषज्ञों की यह राय रही है कि ग्रामीण क्षेत्रों में इन कार्यक्रमों का कितना गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है, इसका अध्ययन अभी नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए सहकारी ऋण के वितरण के फलस्वरूप कितने परिवार अन्य कर्ज देने वाली एजेन्सियों से मुक्त हो सके हैं, इसका अध्ययन नहीं किया गया है। इसी तरह मछली-पालन-कार्यक्रम, पशु-पालन आदि के अन्तर्गत कितने परिवार आए हैं और इस काम को करने के कारण हर परिवार की आय में कितनी वृद्धि हुई है, इस तरह की बातों का अध्ययन नहीं किया जाता। कार्यक्रमों के इस प्रकार के अध्ययन और उसके आधार पर पुनः कार्यक्रमों में परिवर्तन की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। कार्यक्रमों के प्रभाव के बारे में सही जानकारी के लिए इस तरह की अनिश्चितता को मिटाना आवश्यक है।

निर्माण-कार्य

सामुदायिक विकास-योजनाओं के अन्तर्गत निर्माण-कार्यों के लिए सबसे अधिक वित्तीय प्राविधान रहता है। लेकिन अगर गाँवों में जाकर देखा जाय तो बहुत-से निर्माण-कार्य अधूरे रहते हैं। इसके कारणों की जांच होनी चाहिए। कृषि-कार्यक्रमों के अन्तर्गत होने वाले निर्माण-कार्यों को तो जल्दी और निर्धारित समय से पूरा करना सबसे ज़रूरी है। कम्पोस्ट के गढ़ों, सिंचाई के कुओं, नालियों आदि कार्यों को पूरा करने में विलम्ब किया जाता है। अक्सर उन्हें जैसा कि एस्टीमेट में बनाने का वायदा किया जाता है, वैसा बनाया भी नहीं जाता। इन निर्माण-कार्यों के लिए जो एस्टीमेट दिए जाते हैं, उसे वास्तविक खर्च से अधिक का अनुमान लगाकर तैयार किया जाता है और बाद में गलत वाउचर और रसीदें बनाई जाती हैं। नतीजा यह होता है कि ये निर्माण-कार्य उस तरह के नहीं हो पाते हैं जैसा उन्हें होना चाहिए और उन पर लागत बढ़ जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि निर्माण-कार्यों पर होने वाले व्यय पर कारगर नियंत्रण रखा जाय और इसे चन्द ठेकेदार या चालाक लोगों के लिए आय का साधन न बनने दिया जाए।

पंचायतें

सामुदायिक विकास-योजनाओं और पंचायतों का चोली-दामन का सम्बन्ध है। यद्यपि कुछ राज्यों में पंचायतों को कृषि तथा ग्रामीण-विकास के कार्य अभी नहीं दिये गए हैं और कुछ जगहों पर इसे शुरू भी नहीं किया गया है, फिर भी अधिकांश राज्यों में पंचायतों के ज़रिए विकास-कार्यक्रमों को संचालित कराने पर जोर दिया जा रहा है। कई राज्यों में ब्लाक समितियाँ बनाई गई हैं और उनमें पंचायतों के प्रतिनिधि रखे गये हैं, ताकि कार्यक्रमों को बनाने और उन्हें लागू करने के लिए उनका सहयोग प्राप्त किया जाए। लेकिन कृषि-कार्यक्रमों को गांवों में लागू करने के लिए पंचायतें अधिक समय नहीं दे पाती हैं। इसके कई कारण हैं। एक मुख्य बात ग्रामीण दलबन्दी है। पंचायतें इस दलबन्दी के कारण आर्थिक कार्यक्रमों को लागू करने में अपना योगदान नहीं दे पातीं। इसके अतिरिक्त पंचायतों के सदस्य सार्वजनिक भलाई की दृष्टि से काफी समय खेती के विकास-कार्यों के लिए नहीं देते। वे सदस्य बने रहने और सुविधाएँ प्राप्त करने की बात तो सोचते हैं, लेकिन कृषि-विकास के लिए समूचे गाँव को लाभ पहुंचाने में कम ही दिलचस्पी रखते हैं। पंचायतों के संगठन के पीछे जो मूल भावना है, उससे यह बात ज़रा भी मेल नहीं खाती। प्रजातंत्र तथा विकेन्द्रीकरण के नाम पर पंचायतों के अधिकार भी बढ़ाए गए हैं, लेकिन बहुत कम पंचायतें कारगर ढंग

से काम कर रही हैं। पंचायतों के कारगर ढंग से कार्य न करने का एक कारण यह भी है कि उनमें शिक्षित कार्यकर्ताओं की कमी है। इसके अलावा पंचायतों के काग़ज़ी काम भी बहुत बढ़ गए हैं। ट्रेनिंग के अभाव में सदस्य या कर्मचारी कृषि के नए तरीकों के बारे में तकनीकी और वैज्ञानिक बातों की बहुत कम जानकारी रखते हैं। यदि उन्हें इन बातों को बताया जाय, तो वे गाँवों में दूसरे कृषकों में इसका प्रचार कर सकते हैं। यद्यपि विकास-क्षेत्रों में किसानों को कभी-कभी ट्रेनिंग देने की व्यवस्था है, लेकिन वह पर्याप्त नहीं है और उसके प्रभाव को जाँचने का कोई कारगर तरीका अब तक नहीं है। साथ ही, पंचायतों के सदस्यों को सक्रिय बनाने के लिए कुछ प्रोत्साहन-योजनाएँ भी चालू की जानी चाहिए। कृषि-कार्यक्रमों के प्रचार-प्रसार के बारे में हर सदस्य के लिए काम के कुछ लक्ष्य मानक तय कर दिए जाएँ और यह भी निश्चित कर दिया जाए कि जो पंचायत या सदस्य निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में पीछे रहेंगे उन पंचायतों को समाप्त कर दिया जाएगा या सदस्यों को पंचायतों से हटा दिया जाएगा। निश्चय ही यह एक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर परिणामों से भरा निर्णय है, लेकिन इसे ध्यान में रखते हुए इन पंचायतों के लिए न्यूनतम कार्यक्रमों का निर्धारण और उसे प्राप्त करने की जिम्मेदारी निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है।

कुछ व्यावहारिक सुझाव

सामुदायिक विकास-योजना को सफल बनाने तथा इसके ज़रिए कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के कुछ व्यावहारिक सुझाव यहां दिए जा रहे हैं—

१. सामुदायिक विकास-योजना कुछ समय तक मुख्य रूप से कृषि-विकास-कार्यक्रमों को संगठित करने के उद्देश्य से चलाई जाए। इसको लागू करके ग्रामीण क्षेत्रों के बहुमुखी विकास का जो उद्देश्य है, उसमें कोई परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, लेकिन कुछ समय तक उसे कृषि-विकास की दृष्टि से ही संचालित किया जाए।

२. किसी भी विकास-क्षेत्र में सिर्फ़ एक गाँव को इकाई न माना जाए। यदि आर्थिक रूप से कोई गाँव एक इकाई के रूप में उपयुक्त न हो तो उसे दूसरे गाँव में मिलाकर या कई गाँवों को साथ करके विकास-कार्यक्रमों को लागू किया जाए। उससे नियोजन में आसानी होगी।

३. केवल पूर्ण रूप से प्रशिक्षित और अनुभवी व्यक्ति क्षेत्र-विकास अधिकारी बनाए जाएँ।

४. हर स्तर पर कार्यक्रमों के निर्धारण और उसको पूरा करने की जिम्मेदारी निश्चित कर दी जाए।

५. कार्यक्रमों की सफलता या असफलता का बराबर मूल्यांकन किया जाए।

६. विकास-खण्डों में साधनों की पूर्ति में किसी तरह का विलम्ब न होने दिया जाए और स्थानीय रूप से यदि वितरण में कमी रहे, तो उसकी जिम्मेदारी निश्चित की जाए।

७. खेती-सम्बन्धी तकनीकी जानकारी देने और गाँवों में कृषि-कार्यक्रमों को लागू करने-कराने के लिए कृषि के स्नातकों को ही भेजा जाए और उन्हें खेती के क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यवस्था के सैद्धान्तिक और व्याव-हारिक पक्षों पर पहले पूर्ण रूप से प्रशिक्षित किया जाए, फिर उन्हें किसी योग्य अधिकारी के साथ रखकर ट्रेनिंग दी जाए।

८. ग्राम-स्तर पर कृषि-विकास के कार्यक्रमों को बढ़ाने तथा अधिका-धिक कृषकों से संपर्क बढ़ाने के लिए ग्राम-सेवकों की संख्या बढ़ाई जाए।

९. कृषि के नए तरीकों के लिए अधिक-से-अधिक प्रदर्शन आयोजित किए जाएँ।

१०. विभिन्न स्तर पर हो रहे कामों के निरीक्षण की व्यवस्था में सुधार हो।

११. सामुदायिक विकास-कार्यक्रमों को उत्पादकता-उन्मुख बनाया जाए।

सहकारी समितियों का योगदान

सहकारी आन्दोलन को देश में कृषकों की सहायता के लिए ही प्रारम्भ किया गया था और इस समय भी इसका मुख्य उद्देश्य यही है। चौथी योजना के मसविदे में भी सहकारिता के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि योजना के अन्तर्गत कृषि-विकास के विभिन्न कार्यक्रमों को संचालित करने में सहकारी आन्दोलनों को बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान देना है। ये योगदान ऋण-वितरण, विप-णन, साधनों के वितरण, उपभोक्ता आन्दोलन के विस्तार, पशुपालन, सहकारी खेती, मत्स्य-पालन, डेयरी आदि के क्षेत्र में हो सकता है। इस तरह खेती के विकास और इसकी उत्पादकता बढ़ाने की काफी जिम्मेदारियां सहकारी आन्दो-लन पर डाल दी गई हैं, लेकिन इन्हें तभी निभाया जा सकता है जब अच्छे सहकारी संगठनों का विकास किया जाए। कुछ सहकारी संगठन अच्छा कार्य कर रहे हैं,

लेकिन अधिकांश संगठन ऐसे हैं, जो जैसे-तैसे अपने अस्तित्व को कायम रखने-भर का काम करते हैं। न तो वे नई दिशाओं में अपने कार्य को फैलाते हैं और न ही एक सफल व्यावसायिक संगठन की तरह काम करते हैं। ऐसे संगठन सहकारी आन्दोलन की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा हैं। कृषि के विकास में सहकारी आन्दोलन जो योगदान दे सकता है, वह आर्थिक क्षेत्र की एक बड़ी उपलब्धि तो होगी ही, लोकतन्त्र की स्थापना की दिशा में भी एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम होगा। अतः सहकारी आन्दोलन को मजबूत आधार पर संगठित करना अत्यन्त आवश्यक है।

सहकारी संगठनों को कैसे शक्तिशाली बनाया जा सकता है, इस विषय में कुछ सामान्य बातों की ही यहां चर्चा की गई है। सबसे जरूरी बात तो यह है कि समितियों के कार्य करने की वर्तमान क्षमता की पहले सही-सही जानकारी हासिल की जाए। यह कार्य उत्पादकता-विशेषज्ञों को सौंपा जाए, ताकि वे वर्क स्टडी टेकनीक (कार्य-अध्ययन-विधि) द्वारा समितियों के कार्य करने की क्षमता का पता लगाएं और उसे कैसे बढ़ाया जा सकता है, इसके बारे में सुझाव दें। इसका यह मतलब नहीं कि सभी समितियों की वर्क स्टडी कराने की आवश्यकता है। ऐसा करने में तो वर्षों लग जाएंगे। इसके लिए उचित यह होगा कि समितियों का वर्गीकरण कर लिया जाए और प्रतिनिधि समितियों की वर्क स्टडी कराई जाए। यद्यपि प्रत्येक समिति की अपनी-अपनी अलग-अलग समस्याएं होंगी, लेकिन उनके कार्य करने के बारे में यदि कुछ सामान्य निर्णयों और सुझावों को भी अपनाया गया तो भी उनकी कार्य-क्षमता में बहुत सुधार हो जाएगा।

वस्तुतः उत्पादकता की विधियों को अपनाकर समितियों को अधिक शक्तिशाली बनाया जा सकता है। इस उद्देश्य से प्रयोग के तौर पर या पाइलट प्रोजेक्ट के रूप में कुछ समितियां चुनी जा सकती हैं और उनके कार्य करने में वर्क स्टडी टेकनीक (कार्य-अध्ययन-विधि) द्वारा क्या सुधार हुआ, इसे देखा जा सकता है। मैं इस विषय में ज्यादा जोर इसलिए दे रहा हूं कि किसी संगठन की सफलता आज के व्यावसायिक युग में इस बात पर निर्भर करती है कि वह संगठन किस हद तक उत्पादक है अर्थात् उसके कार्य करने की क्षमता कितनी अधिक है। आज के प्रतियोगिता के युग में जो संगठन उत्पादकता के उसूलों पर नहीं चलेगा, वह अवश्य समाप्त हो जाएगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सहकारी समितियों की उत्पादकता बढ़ाई जाए। चौथी योजना के मसविदे में भी यह संकेत किया गया है कि बहुत-सी समितियां निष्क्रिय हैं और उन्हें या तो पुनः संगठित करके क्रियाशील बनाया जाए या उनमें दम न हो तो उन्हें समाप्त कर दिया जाए। इससे यह लाभ होगा कि निष्क्रिय समितियों पर होने वाले अनावश्यक

व्यय और ऐसी समितियों की उम्मीद पर भावी कार्यक्रमों को निर्धारित करने के खतरे से बचा जा सकता है।

जहां तक निष्क्रिय समितियों को समाप्त करने का प्रश्न है, इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें इस प्रकार तोड़ दिया जाए कि उस क्षेत्र के लोगों को किसी तरह की सुविधाएं ही न मिलें। सबसे पहले तो यदि वर्तमान निष्क्रिय समितियों को ही थोड़ी-बहुत मदद से क्रियाशील बनाया जा सकता है, तो बनाया जाए, लेकिन यदि उनके ठीक ढंग से चलने की सम्भावना न हो तो उन्हें आसपास की किसी ठीक ढंग से काम कर सही समिति से मिला दिया जाए, ताकि उस क्षेत्र के लोगों को मिलने वाली सुविधाएं उन्हें मिलती रहें।

सहकारी कानूनों में संशोधन

सहकारी आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए सहकारी कानूनों में संशोधन करना आवश्यक है। काफी समय से यह बात कही जाती है कि सहकारी कानून बहुत जटिल हैं और उन्हें आसान बनाना चाहिए। राष्ट्रीय विकास परिषद् ने ९ नवम्बर, १९५७ को ही अपने एक प्रस्ताव में कहा था, "सहकारी नियम ऐसे हैं कि इस आन्दोलन को आम जनता का आन्दोलन नहीं बनाया जा सकता। छोटे-छोटे समूह या समुदाय के रूप में काम करने में इन नियमों से सहायता नहीं मिलती। सरकारी हस्तक्षेप और लाल फीताशाही को समाप्त करने के लिए तो इन कानूनों को बदलना ही होगा।" इस आधार पर योजना आयोग और केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों से नियमों को सरल बनाने का सुझाव दिया था।

प्रश्न उठता है कि नियम-सम्बन्धी परिवर्तन किन-किन क्षेत्रों में किया जाए। इस सम्बन्ध में भारत सरकार की एक एस्टीमेट कमेटी (नं० २२८) ने १९६०-६१ में एक रिपोर्ट दी थी, जिसमें स्पष्ट रूप से बताया गया था कि नियमों और कार्य-पद्धति-सम्बन्धी सुधार निम्नलिखित क्षेत्रों में होने चाहिए :

१. अधिकारों का विकेन्द्रीकरण नीचे के स्तर पर किया जाए।

२. सहकारी समितियों के कर्त्तव्य स्पष्ट किए जाएं और उन्हें कानून द्वारा ज्यादा जिम्मेदारियां दी जाएं।

३, आडिट के तरीकों में सुधार किए जाएं।

४. विभिन्न स्तरों पर निर्णय लेने में जो कानूनी अड़चनें हैं, उन्हें दूर किया जाए। ये अड़चनें संगठन को मान्यता देने, रजिस्ट्रेशन करने, सम्पत्ति-विवरण तैयार करने, और उन्हें मंजूर करने, ऋण वितरित

करने, विवादों के निर्णय करने आदि कई कार्यों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं।

कानून और कार्य-पद्धति-सम्बन्धी जटिलता को दूर करने में राज्य सरकारों ने समय-समय पर कई कदम उठाए हैं, लेकिन इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अभी बहुत-कुछ करना है। कुछ जगहों पर तो ये शिकायतें हैं कि नियमों को आसान बनाने के उद्देश्य से किए गए संशोधनों से जटिलता और बढ़ गई। इस तरह के विचार लोक सभा में और विभिन्न गोष्ठियों में बराबर व्यक्त किये गए हैं। सरकारी कानूनों की जटिलता समाप्त करने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सरकारी अधिकारियों का यह रवैया है कि यदि समितियों को अधिक अधिकार दिए गए, तो वे उसका दुरुपयोग करेंगी। लोगों को पिछड़ा हुआ समझकर उनको उनके अधिकारों से वंचित रखना तो किसी भी आधार पर उचित नहीं। वस्तुतः गलती तो हर किसीसे होती है। हमारे स्वर्गीय प्रधान मन्त्री नेहरूजी कहा करते थे कि लोगों को अधिक अधिकार देने से मत घबराएँ, क्योंकि वे गलती करके ही सीखेंगे। साथ ही, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सभी संगठन एक-से ही नहीं हैं। जो जिम्मेदारी उठा सकते हैं, उन्हें तो व्यापक अधिकार मिलने ही चाहिए।

सहकारी संघों को शक्तिशाली बनाएं

हमारे यहाँ राज्य सरकारों के सहकारी विभागों ने सचिवालय स्तर पर तथा संचालकों के स्तर पर बड़े अधिकार ले रखे हैं, जिससे सहकारी संघों, विशेषतः राज्य-स्तर तथा जिला-स्तर के संघों, के पास पर्याप्त अधिकार नहीं हैं कि वे अपनी सदस्य समितियों को तत्काल निर्देश दे सकें। वस्तुतः संघों को शक्तिशाली बनाना अत्यन्त आवश्यक है। विदेशों में, जहां सहकारी आन्दोलन का प्रसार हुआ है वहाँ सरकारों ने नीति-विषयक अधिकार ही अपने पास रखा है और कार्य करने के मामले में संघों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई है। यदि ऐसा नहीं किया गया, तो सहकारी संघों के कार्य करने में आन्तरिक स्वतन्त्रता नहीं रहती, जो प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

सहकारी कानूनों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन निहित स्वार्थों को समाप्त करने के उद्देश्य से होना चाहिए। किसी भी संगठन के नियम ऐसे होने चाहिए कि उनसे सही नेतृत्व के विकास में सहायता मिले। उदाहरण के लिए किसी एक व्यक्ति को एक से अधिक संगठनों का प्रमुख होने से कानून द्वारा रोका जा सकता है। मद्रास का सहकारी कानून इस दृष्टि से एक उदाहरण है। सहकारिता के क्षेत्र में काम कर रहे अर्थशास्त्रियों का विचार है कि वर्तमान कानून निहित स्वार्थ

वालों को संगठन से दूर रखने में समर्थ नहीं है। कुछ लोगों का तो सुझाव यह है, और जो उचित भी है कि राज्य सरकारों का प्रतिनिधित्व सहकारी संगठन में इस उद्देश्य से हो कि यह देखा जा सके कि समितियाँ सरकार द्वारा निर्धारित नीति का किस प्रकार पालन कर रही हैं और निहित स्वार्थों के चंगुल में तो नहीं फंस गई हैं।

जब हम सहकारी संगठनों को व्यापक अधिकार देने की माँग करते हैं, तो हमारा ध्यान इन संगठनों में व्याप्त दलबन्दी और भ्रष्टाचार की ओर भी जाता है। यह सर्वविदित है कि अधिकांश समितियों के सुचारु रूप से कार्य न करने का एक मुख्य कारण इन समितियों में दलबन्दी और इसके कारण उत्पन्न भ्रष्टाचार है। जब चुनाव कराये जाते हैं और संगठन के पदों के लिए अपने-अपने पक्ष में तैयारियाँ होंगी, उस समय थोड़ी-बहुत दलबन्दी की गुंजाइश तो रहेगी ही, लेकिन चुनावों के बाद भी जब विरोधियों से बदला लेने और अपने लोगों की मदद करने की भावना से काम होता है, उस समय समितियों या संगठनों का विकास ही रुक जाता है। ऐसी स्थिति में जो कश्मकश रहती है, वह कभी-कभी मुकदमेबाजी का रूप भी ले लेती है। ऐसी समितियों को भोजपुरी भाषा के एक हास्य लेखक ने 'कोआपरेटिव' न कहकर 'कपारफोरेटिव' कहा है। दलबन्दी को बढ़ावा जितना नीचे से नहीं मिलता है, उतना ऊपर से मिलता है। संगठन के शीर्षस्थ नेता अपना-अपना असर कायम रखने के लिए जैसे-तैसे समितियों पर कब्जा बनाए रखना चाहते हैं।

उचित नेतृत्व एवं प्रशिक्षण

इस विषय में हम विस्तार में नहीं जाना चाहते, क्योंकि प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि सहकारी आन्दोलन के विकास की पहली शर्त यह है कि इसके लिए नेतृत्व का विकास स्थानीय रूप में हो और जो लोग उस क्षेत्र में काम करें, उन्हें अपने काम की पूरी जानकारी हो। जहाँ तक नेतृत्व के विकास का प्रश्न है, यह तभी सम्भव है जब ऐसे लोग आगे बढ़ें, जो अपनी भलाई के साथ दूसरों की सेवा करने के उद्देश्य से काम करते हैं। यह एक जन-आन्दोलन है, सरकारी आन्दोलन नहीं। अतः इसका नेतृत्व जनता के लोगों को ही सम्भालना है। लेकिन जनता के बीच से सही लोग कैसे आएँ, यह अपने-आपमें एक बहुत बड़ा प्रश्न है। मोटे तौर पर एक बात कही जा सकती है कि यह तभी संभव है जब समितियों के साधारण सदस्य जागरूक हों और वे यह समझें कि उनके संगठन की भलाई कैसे लोगों को चुनने में है। यह एक कठिन काम है और बार-बार ऐसे कहा जाता है जैसे उपदेश

दिए जा रहे हों, लेकिन यह एक बुनियादी बात है कि सदस्यों के स्तर से ही नेतृत्व का स्तर भी तय होगा।

इस सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नेतृत्व का कार्य एक कड़ी की तरह है। केन्द्रीय स्तर, राज्य-स्तर, जिला-स्तर और ग्राम-स्तर, सभी जगह नेतृत्व की आवश्यकता है और सभी एक-दूसरे पर उसी प्रकार आश्रित हैं जैसे एक कड़ी दूसरी कड़ी पर। अतः नेतृत्व की कड़ी हर स्तर पर मजबूत होनी चाहिए। नेतृत्व का विकास धीरे-धीरे होता है। इसके लिए जरूरी है कि समितियों में हम मिशनरी भावना से काम करें और ईमानदार लोगों को लाएँ। सहकारी संगठनों को चलाने वाले नेताओं और कार्यकर्ताओं को यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस काम को वे कर रहे हैं, उसके लिए पूर्ण निष्ठा, आस्था और दायित्व की भावना की आवश्यकता है। जब तक संगठन का हित सर्वोपरि नहीं रहता, इस दिशा में सफलता पाना कठिन है।

उचित नेतृत्व के विकास के साथ ही कार्यकर्ताओं के सही-सही प्रशिक्षण का प्रश्न भी जुड़ा है। अक्सर यह देखा गया है कि सहकारी समितियों के सदस्य सरकारी विभागों पर इसलिए आश्रित रहते हैं कि उन्हें समितियों की कार्य-प्रणाली, हिसाब-किताब रखने, नियम-उपनियमों, व्यवस्था आदि के बारे में ठीक-ठीक जानकारी नहीं रहती। शिक्षा की कमी इसका एक मुख्य कारण है, लेकिन शिक्षित व्यक्तियों को भी उचित प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है। कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था राज्य सरकारों ने की है, लेकिन जो सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं और इनका विस्तार होना चाहिए।

कुछ अन्य व्यावहारिक सुझाव

(१) सहकारी आन्दोलन को मजबूत बनाने के लिए आवश्यक है कि वह अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करें। विपणन की अच्छी व्यवस्था, ऋण-वितरण, कृषि-पैदावार के प्रोसेसिंग उद्योगों के संगठन, सहकारी खेती, साधनों के वितरण, उपभोक्ता आन्दोलन को ग्रामीण क्षेत्रों में फैलाने, फसल बीमा, अच्छे भण्डारों के निर्माण, मछली-पालन, पशु-पालन, सिंचाई-व्यवस्था, कृषि-यंत्रों की व्यवस्था, ग्रामीण उद्योगों के विकास आदि के क्षेत्र में सहकारी आन्दोलन को अभी बहुत-कुछ करना है। जब तक सहकारी संगठन इन क्षेत्रों में अपनी गतिविधियों का विकास नहीं करते तब तक खेती की उत्पादकता बढ़ाने में पूर्ण योगदान नहीं दे सकते।

(२) गैर-सरकारी क्षेत्रों के सहयोग को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता है। बहुत समय तक सहकारी आन्दोलन का सरकार पर निर्भर रहना ठीक नहीं होगा।

(३) राज्य सरकारों को इस आन्दोलन को विकसित करने में अधिक दिलचस्पी लेनी चाहिए, क्योंकि कार्यक्रमों को लागू करने के लिए वे ही जिम्मेदार हैं।

(४) सहकारी खेती के कार्यक्रमों को बड़े पैमाने पर चालू किया जाय, क्योंकि छोटे किसानों की खेती के सम्भालने और बढ़ाने का यह सबसे उपयुक्त तरीका है।

(५) राज्य सरकारों को, सहकारी बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं को कृषि-विकास के कार्यक्रमों के लिए ऋण देने में प्राथमिकता देनी चाहिए। साथ ही, सहकारी बैंकों को भी ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-विकास के कार्यक्रमों के लिए ही ऋण देने को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(६) सहकारी खेती में सम्मिलित होने वाले छोटे किसानों को यह आश्वासन दिए जाएं कि पिछले पाँच सालों में उन्हें खेती से जो आय हुई है, वह सुरक्षित रहेगी और उससे कम उन्हें नहीं प्राप्त होगा।

प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्या

सहकारी संगठनों के विकास की समस्या एक प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्या भी है। आजकल किसी भी संगठन की जिम्मेदारी उसके प्रबन्धकों पर होती है। प्रबन्धक के कई तरह के काम हैं। योजना बनाना, कार्य-दिशा देना, निर्धारित लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करना, देख-रेख करना, मितव्ययतापूर्वक संगठन को चलाना और मोटे तौर पर कह सकते हैं संगठन के हितों की रक्षा करना, ये सब प्रबन्धकों की जिम्मेदारी है। इन सब बातों के लिए अच्छी प्रबन्ध-व्यवस्था तभी विकसित हो सकती है जब प्रबन्धक अपनी कार्यप्रणाली के बारे में स्पष्ट हों और जिम्मेदारी की भावना से काम करें। इस दृष्टि से हम देखें, तो यह पायेंगे कि कुशल प्रबन्धकों की सहकारी क्षेत्र में बहुत कमी है। बड़े-बड़े उद्योगों की सफलता का रहस्य यही है कि वहां कुशल प्रबन्धकों के चुनाव और विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता है। सहकारी क्षेत्र में कुशल प्रबन्धकों की भूमिका और इसके महत्त्व को अच्छी तरह समझा नहीं गया है। यदि हम चाहते हैं कि सहकारी संगठन अन्य व्यवसायों की तरह कुशलतापूर्वक चलें, तो हमें इस क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यवस्था के

निर्माण एवं विकास के लिए योजनाबद्ध ढंग से काम करना होगा।

सहकारी आन्दोलन में एक भ्रम यह रहा है कि समितियों का उद्देश्य मुनाफा कमाना नहीं है, परन्तु ऐसा सोचना गलत है। यह सही है कि जैसे-तैसे व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से मुनाफा कमाना सहकारी संगठनों का उद्देश्य नहीं हो सकता, जैसा कि निजी व्यवसायी करते हैं, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सहकारी संगठन भी एक आर्थिक संगठन है और उद्योग या व्यापार चलाने के जो नियम हैं, उनसे भिन्न इसके नियम नहीं हो सकते। सिर्फ अन्तर यह है कि जहां निजी ढंग से धंधा करने वाले व्यापारी अपनी भलाई को ही मुख्य बात समझते हैं, वहां सहकारी संगठनों को अपने सदस्यों, समाज और उन तमाम लोगों की भलाई का ध्यान रखना होता है, जो उस संगठन की सेवाओं से लाभ उठाते हैं। लाभ, उचित प्रबन्ध-व्यवस्था, मितव्ययता, पहले से कार्यक्रमों को निश्चित करना और उन्हें अच्छी तरह लागू करना, उचित बजट-व्यवस्था, लक्ष्यों को प्राप्त करने में दृढ़ता, साधनों को जुटाना, लागत के प्रति सतर्कता आदि सफल व्यवसाय की चन्द जरूरी शर्तें हैं और ये ही बातें सहकारी संगठनों की सफलता के लिए भी आवश्यक हैं। सहकारी संगठन को सफल बनाना है, तो हमें उन्हें एक अच्छे आर्थिक संगठन की दृष्टि से ही चलाना होगा।

: ११ :

कृषि-उत्पादकता के लिए वित्तीय व्यवस्था

कृषि-उत्पादकता के साधनों पर विचार करते समय हमने पूंजी की आवश्यकता पर संक्षेप में विचार किया है । यहां हम कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए किसानों की वित्तीय आवश्यकता एवं पूर्ति के विषय में विस्तार से विचार करेंगे । कृषि-समस्याओं का निकट से अध्ययन करने के बाद यह महसूस किया जा रहा है कि खेती के विकास के लिए जितने बड़े पैमाने पर किसानों को धन की ज़रूरत है, वह उनके पास नहीं है । उन्नत बीज, खाद, कीटनाशकों, खेती की मशीनों आदि की सहायता से किसान पैदावार बढ़ाने के लिए तभी आगे बढ़ेंगे जब उनके पास इन्हें खरीदने के लिए पर्याप्त धन रहे। अतः यह देखना होगा कि जो ज़रिए इस वित्तीय प्राविधान के लिए हैं, वे पर्याप्त हैं या नहीं और यदि नहीं हैं तो क्या किया जाय कि खेती को पुनर्गठित करने के लिए उन्हें पर्याप्त धन प्राप्त हो।

कृषि के क्षेत्र में वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए जो ऋण लिया जाता है, उसका लगभग ७५ प्रतिशत निजी जरियों से प्राप्त होता है और २५ प्रतिशत सहकारी संगठनों या इसी तरह की दूसरी संस्थाओं से प्राप्त होता है। साथ ही, किसानों को जो धन ऋण के रूप में प्राप्त होता है, वह कठिन शर्तों पर मिलता है, अपर्याप्त होता है और समय से नहीं मिलता। रिज़र्व बैंक ने जो जांच तथा अध्ययन इस सम्बन्ध में कराए हैं, उनके अनुसार वित्तीय सहायता देने की पुरानी एजेन्सियां और वर्तमान सहकारी समितियां दोनों मिलकर भी कृषकों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ हैं। प्रगतिशील किसान यदि दीर्घकालीन आधार पर और बड़े पैमाने पर कृषि-विकास के कार्यक्रम बनाएं, उस समय तो निजी साधनों पर निर्भर करना सम्भव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में खेती के विकास के लिए आज की एक मुख्य समस्या यह है कि कैसे किसानों को ज़रूरत के अनुसार पर्याप्त धन प्राप्त होता रहे। इस दृष्टि से सहकारी संस्था किस प्रकार योगदान दे रही है और दे सकती है, पहले हम इस पर विचार करें। प्रारम्भिक कृषि ऋण सहकारी समिति, सेंट्रल सहकारी बैंक और स्टेट कोआपरेटिव बैंक मिलकर सहकारी ऋण की व्यवस्था करते हैं। ये समितियां अल्पकालीन

और मध्यमकालीन ऋण देती हैं। यद्यपि व्यवहार में ऋण-वितरण का आधार अनेक स्थानीय कारणों और दबाव से दूसरा हो सकता है, लेकिन सिद्धान्त रूप में यह माना जाता है कि कृषकों की आवश्यकता तथा दी गई धन राशि की वापिसी की निश्चितता को ध्यान में रखकर ही ऋण दिया जाय। साथ ही, यह भी ध्यान में रखा रखा जाय कि जिस उद्देश्य से ऋण दिया जाता है, वह उसी काम में लाया जाय। लेकिन अक्सर यह देखा जाता है कि जान-बूझकर या लापरवाही के कारण जब ऋण-वितरण के इन बुनियादी आधारों की अवहेलना की जाती है तभी इन संगठनों की कार्यकुशलता समाप्त होने लगती है और उनके पास जो कुछ भी धन उपलब्ध रहता है, उसका वे ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाते।

यह सही है कि ऋण देने वाले सहकारी संगठन इतने अधिक छोटे-छोटे किसानों को ऋण देते हैं कि कृषकों की जरूरतों के बारे में पूरी जानकारी रखने में उन्हें कठिनाई होती है। लेकिन फिर भी कुछ ऐसे तरीके निकाले जा सकते हैं, जिनसे यह समस्या हल हो सकती है। रिज़र्व बैंक ने यह सुझाव दिया है कि व्यक्तिगत आधार पर आवश्यकता की जांच करने की जगह औसत को ज़रूरतों का आधार बनाया जाय। इसके लिए रिज़र्व बैंक ने यह सुझाव दिया है कि प्रत्येक फसल में एक एकड़ उत्पादन के लिए कितने ऋण की आवश्यकता होगी, इसका निश्चय कर लिया जाय। इन आवश्यकताओं के मानक तैयार कर लिए जायं।

जहां तक सहकारी संगठनों के ऋण देने की क्षमता का प्रश्न है, आंकड़ों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि जहां १९५०-५१ में सहकारी संगठनों ने २३ करोड़ रुपये ऋण के रूप में दिए वहां ६५-६६ में उन्होंने ३४५ करोड़ रुपये ऋण के रूप में वितरित किए। वस्तुतः सहकारी संगठनों ने इस दिशा में अच्छा कार्य किया है। फिर भी उनकी ऋण देने की क्षमता कृषकों की आवश्यकता के १५ प्रतिशत को पूरा करने से अधिक नहीं है। दूसरी समस्या यह है कि सभी राज्यों में सहकारी संगठनों के ऋण-वितरण की क्षमता एक जैसी भी नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि सहकारी संगठन कैसे अपने लिए अधिक धन उपलब्ध करें, ताकि उसे कृषकों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए दिया जा सके। इस सिलसिले में जो सबसे व्यावहारिक सुझाव अब तक आया है, वह यह है कि सहकारी संगठन बैंकों की तरह ही लोगों से रुपया जमा करें और बैंकों की ही तरह देन-लेन का काम करें और सिर्फ सरकारी सहायता पर ही निर्भर न करें। सहकारी संगठनों, विशेषतः सहकारी बैंकों में, व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा जमा की गई राशि अभी तक इन बैंकों में कुल जमा धनराशि का का १५ प्रतिशत तक ही रहता है। यदि सहकारी संगठन अपनी साख को बेहतर बनाएं, बैंकों की

तरह ही अपने काम करने के तरीकों में कुशलता लाएं, ग्रामीण क्षेत्रों में रुपया जमा कराने की अधिक-से-अधिक सुविधा दे सकें, तो इन्हें बैंकों की अपेक्षा किसान से अधिक प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

सहकारी संगठनों की ऋण देने की क्षमता को बढ़ाने की दूसरी महत्वपूर्ण और कारगर योजना ऋण-व्यवस्था (क्रेडिट) और विपणन (मार्केटिंग) योजना की एकीकरण की हो सकती है। इस योजना के अंतर्गत प्रारम्भिक समितियाँ किसानों को ऋण देंगी और ऋण की वापसी उन्हीं किसानों की पैदावार को बेचकर करेंगी। सहकारी संगठन को ऋण-वितरण और विपणन के एकीकरण की योजना को आगे बढ़ाने का सुझाव पिछले कुछ वर्षों से बराबर दिया गया है, लेकिन इस दिशा में बहुत प्रगति नहीं हुई है। जिन क्षेत्रों में पैकेज प्रोग्राम चल रहे हैं वहाँ भी ऋण और विपणन-योजना के एकीकरण में कोई सफलता नहीं मिली है।

इसका मतलब यह हुआ कि बहुत बड़ी संख्या में किसान अपनी बची हुई पैदावार की बिक्री प्राइवेट एजेंसियों से करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि सहकारी समितियों के जरिये पैदावार की जो कीमत किसान को प्राप्त होती है, उससे अधिक उन्हें खुले बाजार में प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का सुझाव है कि जो किसान सहकारी समितियों से सम्बन्धित हैं, उनकी कुल पैदावार की बिक्री सहकारी समितियों के जरिये ही की जाय। लेकिन इस तरह के दबाव डालने का विपरीत प्रभाव पड़ेगा और किसान का सहकारी समितियों से जो थोड़ा-बहुत भी सम्पर्क है, उसके भी समाप्त हो जाने का डर है। अतः कोशिश इस बात की करनी होगी कि खुले बाजार से किसानों को जो कीमत मिलती है, उससे कम कीमत सहकारी समितियों के जरिये उन्हें न प्राप्त हो।

सहकारी समितियों के साधनों, विशेषतः उनके ऋण देने की क्षमता का विकास इसलिए भी नहीं हो सका है कि इनके द्वारा वितरित ऋण की वापसी समय से और पूरी मात्रा में नहीं हो पाती है। जब तक ऋण की वापसी के लिए कारगर कदम नहीं उठाये जायँगे तब तक सहकारी संगठन की स्थिति डावांडोल ही रहेगी। ऋण की वापसी के सम्बन्ध में तरह-तरह के सुझाव आते रहे हैं और पहले के मुकाबले स्थिति में सुधार हुआ है, लेकिन इस समस्या का स्थायी समाधान सिर्फ इसमें है कि किसी भी व्यक्ति को ऋण देने की सीमा सिर्फ उतनी हो जितने मूल्य की पैदावार वह व्यक्ति सहकारी संगठन के जरिए बेचने के लिए तैयार हो।

रिज़र्व बैंक की सहायता

यद्यपि १९३५ से ही रिज़र्व बैंक के कृषि ऋण विभाग की स्थापना हुई थी, तथापि १९६० के बाद ही रिज़र्व बैंक ने सहकारी संगठनों के माध्यम से कृषि विकास के लिए ऋण देने में बड़े पैमाने पर सक्रिय सहयोग दिया। रिज़र्व बैंक द्वारा दी गई धनराशि से सहकारी संगठन अल्पकालीन, मध्यमकालीन और दीर्घकालीन तीनों तरह के ऋण कृषि-विकास के लिए देते हैं। इस ऋण पर दूसरे ऋणों के मुकाबले कम सूद देना पड़ता है। रिज़र्व बैंक द्वारा १९५२ में नियुक्त ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति (रूरल क्रेडिट सर्वे कमेटी) ने कृषि-विकास के लिए ऋण की समस्या को पूरे सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न किया और निम्नलिखित बातों को इस समस्या के समाधान का आधार मानने पर जोर दिया :—

१. ऋण-वितरण का उद्देश्य उत्पादकता बढ़ाने का होना चाहिए। २. किसानों की हर तरह की आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिए। ३. राज्यों को ऋण-व्यवस्था में पूरी रुचि लेनी चहिए। ४. ऋण-वितरण का कार्य अन्य सहकारी प्रयत्नों विशेषत: विपणन के साथ जुड़ा होना चाहिए। ५. ऋण-वितरण-कार्य को अधिक कुशलतापूर्वक किया जाए।

इन मूलभूत बातों के अलावा कृषि के लिए ऋण-व्यवस्था के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक ने जो सिफारिशें की हैं, यदि उन पर पूरी तरह से अमल किया गया तो सहकारी संगठन के पास किसानों की ज़रूरत के लिए पर्याप्त धन भी हो जाय, और उनके कार्य करने का तरीका भी अधिक कुशल हो सकता है। इस सम्बन्ध में शायद सबसे बड़ी गलती तो ऋण को उत्पादकता बढ़ने से सम्बन्धित न रखने के कारण से ही होती है। यह एक बुनियादी बात थी और रिज़र्व बैंक ने सहकारी संगठनों को ठीक समय पर अगाह किया था, लेकिन ऋण-वितरण में ज्यादा ध्यान अधिक-से-अधिक धन राशि को वितरित करने और उनकी वापसी की ओर रहा। यदि काफी ऋण वितरित हुआ और उसका अच्छा-खासा हिस्सा वापस आ गया तो सहकारी संगठन ने उसे अपना अहोभाग्य समझा। उस ऋण से कृषकों को किस हद तक पैदावार बढ़ाने में मदद मिली और इसका क्या आर्थिक प्रभाव पड़ा, इस सम्बन्ध में सहकारी संगठन को विशेष चिन्ता नहीं रही।

अन्य बैंकों का योगदान

रिजर्व बैंक के अलावा देश के जो दूसरे व्यावसायिक बैंक हैं, उन्हें भी कृषि-विकास के लिए अधिक धन की व्यवस्था करने में सहयोग देना होगा। काफ़ी समय तक यह धारणा बनी रही कि यह व्यावसायिक (कार्मशियल) बैंक

कृषि-क्षेत्र में कार्य करने के लिए नहीं हैं, लेकिन खाद्यान्न और कच्चे माल की कमी तथा कृषि-उत्पादकता बढ़ाने में गतिरोध के कारण अब महसूस किया जाता है कि इन दूसरे बैंकों की उदासीनता उचित नहीं। जिन उद्योगों के लिए ये बैंक ऋण देते हैं, उनमें बहुत-से कृषि पर निर्भर उद्योग हैं। यदि कृषि का विकास रुक गया तो उन उद्योग-धन्धों का विकास भी रुक जाएगा, जिनके लिए ये बैंक इस समय काम कर रहे हैं। यह सही है कि व्यावसायिक बैंक निजी साहस के आधार पर बड़े उद्योगपतियों द्वारा चलाये जाते हैं और उनका उद्देश्य बैंक के लिए किसी भी क्षेत्र से व्यवसाय करना है। कृषि के क्षेत्र में व्याप्त अनिश्चितता और किसानों की रूढ़िवादिता के कारण व्यावसायिक बैंकों को इस क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलता, परन्तु अब परिस्थिति बदल रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक प्रगतिशील कृषक खेती को व्यावसायिक आधार पर संगठित कर रहे हैं। ऐसे समय दूसरे बैंकों को किसानों की सहायता के लिए आना ही चाहिए।

कृषि के पुनर्गठन के साथ खेती में लाभ कमाने की सम्भावना निरन्तर बढ़ती जाएगी और व्यावसायिक बैंकों के लिए कृषि के क्षेत्र में अधिक भार उठाना जोखिम का काम नहीं होगा। अमेरिका और इंगलैण्ड में भी व्यावसायिक बैंक किसानों के लिए भारी मात्रा में पूंजी की व्यवस्था करते हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि पहले से ही ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी संगठन ऋण-वितरण का कार्य कर रहे हैं। ऐसे में व्यावसायिक बैंक कृषकों से सीधा सम्पर्क स्थापित करें, इस बारे में गम्भीरतापूर्वक पहले सोचना होगा। सहकारी संगठनों और व्यावसायिक बैंकों के कार्यक्षेत्र को स्पष्ट करना आवश्यक होगा। व्यावसायिक बैंक की सहायता किसानों के लिए बहुत बड़ी सहायता होगी। सेंट्रल कोऑपरेटिव बैंक और स्टेट कोऑपरेटिव बैंक में हिस्सा लेकर तो व्यावसायिक बैंक मदद कर ही सकते हैं, वर्तमान परिस्थितियों में प्रारम्भिक समितियों के पूँजी-निर्माण में भी मदद कर सकते हैं। ऋण और विपणन के एकीकरण की सहकारी योजना को लागू करने के लिए सहकारी संगठनों को इस समय भारी मात्रा में पूंजी की जरूरत है और व्यावसायिक बैंक इस कार्य में पूरी सहायता दे सकते हैं। यदि बैंक ऋण-वितरण की प्रणाली और शर्तों में कुछ संशोधन करें तो निजी आधार पर भी किसान उनसे अधिक ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित होंगे।

कृषि की मदद के लिए हाल ही में कृषि वित्त निगम (एग्रीकल्चरल फाइ-नेंस कारपोरेशन) के निर्माण का सुझाव भी दिया गया है। यद्यपि इस प्रस्ताव का ठोस स्वरूप सामने नहीं आया है, तथापि यह निगम कृषि के पुनर्गठन के कार्य में वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य से ही संगठित किया जा रहा है।

कृषि वित्त निगम

कृषि वित्त निगम की स्थापना से सहकारी क्षेत्र को किसी प्रतियोगिता का सामना न करना पड़े, इसके लिए पहले से ही सतर्क रहना आवश्यक है। कोई निगम कितना भी बड़ा हो, वह सहकारी संगठन का स्वरूप नहीं ले सकता, क्योंकि सहकारी संगठन अपने ढांचे में इस प्रकार फैल चुका है कि वह ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक अंग बन गया है। इसके लिए आवश्यक होगा कि कृषि वित्त निगम की नीति को रिजर्व बैंक इस प्रकार प्रभावित करे कि सहकारी संगठनों को मजबूत बनाने के लिए इस्तेमाल हो, न कि उसके लिए प्रतियोगी के रूप में।

सहकारी क्षेत्र कृषि वित्त निगम की स्थापना में अपने लिए कुछ लाभ की ही आशा कर सकता है। लेकिन यह लाभ बहुत-कुछ इसी बात पर निर्भर है कि निगम और सहकारी क्षेत्र के कार्य एक-दूसरे के पूरक हों और उनका कार्यक्षेत्र बहुत स्पष्ट हो। कुछ सहकारी विशेषज्ञों ने इस ओर संकेत किया है और कहा है कि यदि ऐसे किसी निगम की स्थापना हो तो उसे बड़े किसानों, सूखे वाले क्षेत्रों और कृषि के दूसरे काम जैसे डेयरी, पशुपालन, यन्त्रों की व्यवस्था, उनके रख-रखाव आदि कार्यों में किसानों की सहायता करनी चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निगम का कार्यक्षेत्र सहकारी संगठनों से व्यापक होगा। आशा है, निगम ऋण-वितरण तक ही अपने कार्य को सीमित न रखकर, ऋण के बेहतर उपयोग, उसके उपयोग के प्रभाव, ऋण लेने वालों की कृषि-योजना आदि से भी अपने को सम्बन्धित करेगा। ऐसा करके वह सहकारी संगठनों द्वारा की गई गलतियों से पहले से ही बच सकेगा। निगम को अपनी वित्तीय सहायता का मूल्यांकन वितरित धन-राशि की मात्रा और वसूली के आधार पर न करके इस आधार पर करना चाहिए कि उससे उत्पादकता बढ़ाने में कहां तक मदद मिलती है।

निगम को इसका अध्ययन भी करना चाहिए कि सहकारी संगठनों की वित्तीय व्यवस्था क्यों कमजोर रही है और वह उसमें किस प्रकार योगदान दे सकता है। अब तक सहकारी संगठन अपनी वित्तीय व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक और राज्य सरकारों की सहायता पर अधिकतर निर्भर रहे हैं। जिन दूसरे क्षेत्रों से धन प्राप्त हो सकता है, विशेषत: निजी बैंकों से, उनसे सहकारी संगठनों को कोई मदद नहीं मिली। यदि कृषि निगम की स्थापना द्वारा सहकारी संगठनों के लिए अधिक पूंजी-निर्माण की समस्या हल हो सकी, तो यह अपने-आपमें एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। कृषि वित्त निगम अपने कार्यक्रमों का नियोजन करते समय यदि ऊपर दिये गए सुझावों को ध्यान में रखे, तो वह कृषि के पुनर्गठन में महत्वपूर्ण योगदान दे सकेगा।

: १२ :

कृषि-नीति और उत्पादकता

सरकार की कृषि-नीति का उद्देश्य खाद्यान्न और कच्चे माल में देश को आत्म-निर्भर बनाने का रहा है। तीन योजनाओं को पूर्ण करने के बाद अब चौथी योजना लागू हो चुकी है। लेकिन अब तक देश अनाज या कच्चे माल में आत्म-निर्भर नहीं हो सका। जैसा कि पहले कहा गया है, आत्मनिर्भरता के स्टेज तक न पहुँचने के तीन मुख्य कारण हैं :

१. आबादी का तेजी से बढ़ना ;
२. मौसम का अनुकूल न रहना, विशेषत: गत दो वर्षों से सूखे का पड़ना और
३. कृषि-कार्यक्रमों को लागू करने में शिथिलता तथा निर्धारित लक्ष्यों को न प्राप्त करना।

इन कारणों को सरकार भी स्वीकार करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि इन समस्याओं को हल कर लिया गया होता या इन कठिनाइयों को ध्यान में रखकर कार्यक्रम निश्चित किये गए होते तो इस समय जो भयंकर अन्न-संकट है वह कभी का समाप्त हो जाता। जहां तक मौसम के विपरीत होने की बात है, उस पर नियंत्रण पाने के लिए सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार बड़े पैमाने पर प्रारम्भ से ही किया जाना चाहिए था। इधर सभी राज्य सरकारें केन्द्र की सहायता से छोटी सिंचाई योजनाओं पर जोर दे रही हैं, लेकिन पहले इस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया।

कृषि को प्रारम्भ से ही जितना महत्त्व मिलना चाहिए था और कार्यक्रमों की प्राथमिकता निश्चित करने में जिस व्यावहारिक सूझ-बूझ की आवश्यकता थी, उसका अभाव रहा है। यही बात साधनों की पूर्ति के विषय में भी कही जा सकती है। यह सभी जानते हैं कि पैदावार बढ़ाने के लिए कृषि-विकास के कार्यक्रमों को विज्ञान और टेकनालॉजी की सहायता से चलाया जाना चाहिए। उर्वरक, कृषि-यंत्र, उन्नत बीज, कीट-नाशकों आदि की पूर्ति को बढ़ाने के लिए जितना प्रयत्न इस समय किया जा रहा है, क्या पहले भी उसी पैमाने पर किया गया? यह बात

तो पहले से ही स्पष्ट थी कि कृषि हमारे देश का मुख्य धंधा है और इससे राष्ट्रीय आय का ५० प्रतिशत हिस्सा प्राप्त होता है। कृषि अनुसंधान के परिणामों को सामान्य किसानों तक पहुंचाने की दिशा में भी हमारे प्रयत्न पहले बहुत सीमित रहे हैं। कृषि-कार्यक्रमों को लागू करने और उनको निर्धारित करने में क्या कमियां रही हैं, इसकी चर्चा यहां फिर हम नहीं करना चाहते, क्योंकि यह बातें प्रायः हर अध्याय में किसी-न-किसी रूप में आई हैं। यहां हम सिर्फ यह देखना चाहेंगे कि पिछले अनुभवों के आधार पर सरकार ने अपने कार्यक्रमों में क्या परिवर्तन किए हैं और क्या ये कार्यक्रम कृषि-उत्पादकता बढ़ा सकते हैं ?

नई कृषि-नीति

गत तीन योजनाओं के अनुभव के आधार पर चौथी योजना के अन्तर्गत कृषि-कार्यक्रमों में जो परिवर्तन किये गए हैं तथा इनको अधिक कारगर बनाने के जो रास्ते सुझाए गए हैं, उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक तथा स्पष्ट कहा जाएगा। ऐसा लगता है कि अब जिस कृषि-नीति का अनुसरण किया जा रहा है या भविष्य में किया जाएगा उसे पिछली गलतियों को समझने, सुधारने और शीघ्र कृषि-उपज बढ़ाने की दृष्टि से अपनाया गया है। अब यह बात पहले के मुकाबले अधिक पक्के तौर पर स्वीकार की गई है कि खेती के विकास के बिना कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती और औद्योगिक विकास भी इसके विकास पर ही बहुत-कुछ निर्भर है। साथ ही, यह बात भी महसूस की गई है कि खेती को निर्वाह खेती के स्तर से व्यावसायिक एवं लाभदायक खेती के स्तर पर लाने के लिए इसे नए तरीकों से करना और कृषि-कार्य के हर क्षेत्र में विज्ञान और टेकनालॉजी की सहायता लेना आवश्यक है जैसे शिक्षा, ट्रेनिंग, साधनों के इस्तेमाल, वितरण, विपणन आदि। चौथी योजना के कार्यक्रमों को देखने से यह आशा अवश्य बँधती है कि अब हमारी कृषि-नीति सही दिशा में मुड़ रही है। चौथी योजना में घोषित कृषि की इस नई नीति की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :

१. कृषि-उत्पादन के सभी स्तरों पर, विशेषकर खेती में, वैज्ञानिक तकनीक, एवं ज्ञान के प्रयोग पर बल।
२. ऐसे क्षेत्रों का चुनाव करना जिनमें पर्याप्त वर्षा होती हो और सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध हों, ताकि इनमें बीजों के उत्तम किस्मों, उर्वरक की भारी मात्राओं, कृषि के अन्य साधनों की पूर्ति बढ़ाकर तथा उनके पूर्ण इस्तेमाल से पैदावार बढ़ाने में शीघ्र सफलता प्राप्त की जाय।

३. नई कृषि-नीति के अन्तर्गत गहन तरीके से कृषि-विकास पर जोर दिया जाएगा, ताकि कई फसलें प्राप्त हों और जितनी भूमि खेती के लिए उपलब्ध है उससे ही अधिक पैदावार ली जाए। इन तरीकों से १९७०-७१ तक ३२५ लाख एकड़ भूमि से २५५ लाख मैट्रिक टन अतिरिक्त खाद्यान्न पैदा करने की घोषणा की गई है।

इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जिस योजना पर सबसे अधिक जोर दिया जाएगा वह है पैकेज प्रोग्राम। पैकेज प्रोग्राम के अन्तर्गत गहन खेती के लिए किसानों को उन्नत तरीकों को अपनाने के लिए तैयार किया जाता है। १९६०-६१ में गहन कृषि जिला प्रोग्राम, जो पैकेज प्रोग्राम के नाम से प्रसिद्ध है, देश के चुने हुए सात जिलों में प्रारम्भ किया गया था। १९६०-६१ से १९६४-६५ के दौरान पैकेज प्रोग्राम के लागू करने के परिणामस्वरूप लुधियाना में गेहूं के उत्पादन में लगभग ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई और दूसरे जिलों में २० से २५ प्रतिशत तक। इससे उत्साहित होकर इसका विस्तार ११८ जिलों में किया गया। इस कार्यक्रम के चयन के लिए निम्नलिखित कसौटियों को आधार माना गया है :

१. सिंचाई की पर्याप्त सुविधा।
२. बाढ़ों और अन्य प्राकृतिक कठिनाइयों आदि के भय का कम होना।
३. सहकारी समितियों एवं पंचायतों की सक्रियता।
४. अल्प काल में कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिकतम क्षमता का रहना।

एक महत्वपूर्ण कदम

पैकेज प्रोग्राम साधनों के बेहतर उपयोग और शीघ्र परिणाम प्राप्त करने के उद्देश्य से एक सही कदम है। खाद्यान्नों में स्वावलम्बन की दृष्टि से इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस योजना के पक्ष में एक तर्क यह है कि भारत में कृषि विकास की समस्या एक साथ सभी क्षेत्रों में नहीं हल की जा सकती। अतः पहले उन क्षेत्रों में कार्यक्रमों को विशेष रूप में लागू किया जाए जहां कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक पैदावार बढ़ाई जा सकती है। देश में साधनों की काफी कमी है। अतः जो कुछ उपलब्ध है, उसका ऐसे क्षेत्र में उपयोग किया जाए जहां उससे शीघ्र अच्छे परिणाम उपलब्ध हो सकते हैं।

पैकेज प्रोग्राम नए ढंग से खेती करने और उर्वरक तथा अन्य साधनों के पूर्ण उपयोग पर जोर देता है। यदि यह कार्यक्रम सफल हो जाता है तो यह अपने-आपमें कृषि-कार्यक्रमों का एक आदर्श प्रदर्शन होगा, जिससे दूसरे किसानों को

प्रोत्साहन और शिक्षा मिलेगी। इसके अतिरिक्त जब इस योजना के जरिए शीघ्र पैदावार बढ़ेगी तो विदेशों से आयात कम हो जाएगा और उसके द्वारा बचे हुए साधनों का कृषि-विकास के लिए उपयोग हो सकेगा।

खतरे

लेकिन जहां इस योजना के कुछ अच्छे पहलू हैं वहीं यदि इसको ठीक से लागू न किया गया तथा धीरे-धीरे देश के सभी भागों में न फैलाया गया तो डर है कि इससे क्षेत्रीय विषमता बढ़ेगी और कुछ क्षेत्र समृद्ध हो जाएंगे और कुछ पिछड़े ही रह जाएंगे। डा० वी० के० आर० वी० राव ने भी इस खतरे के प्रति सतर्क रहने पर जोर दिया है। उनका अनुमान है कि लगभग ६ करोड़ किसान-परिवार इस योजना से फिलहाल लाभ नहीं उठा सकेंगे। लेकिन इस कमी को दूर करने का एक तरीका यह हो सकता है कि दीर्घकालीन योजना के अन्तर्गत सभी क्षेत्रों के विकास पर ध्यान दिया जाए और साथ ही विस्तृत अध्ययन करके उन क्षेत्रों के लिए कृषि-विकास की दूसरी योजनाएं बनाई जाएं जहां सिंचाई आदि की सुविधाएं नहीं हैं या इन क्षेत्रों में सिंचाई-सुविधाओं का विस्तार किया जाए।

नई कृषि-नीति, जिसमें पैकेज प्रोग्राम को सबसे अधिक महत्त्व दिया जा रहा है, में यह बात तो ठीक है कि साधनों की व्यवस्था पर जोर दिया गया है, लेकिन अब तक जो कार्यक्रम बना है, उसमें कृषि-विकास के संस्थानात्मक सुधार पर विशेष जोर नहीं दिया गया है। संस्थानात्मक परिवर्तनों में सबसे अधिक महत्त्व भूमि-सुधार का है, क्योंकि तकनीकी परिवर्तनों के लिए भूमि-सुधार उसी तरह से बुनियादी महत्त्व रखता है जिस तरह भवन-निर्माण में नींव। तकनीकी परिवर्तन तो सामुदायिक विकास-योजना के अन्तर्गत भी किया जा रहा था, लेकिन आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन का पहलू अछूता रह गया और कृषि-विकास की गति धीमी रह गई। अतः भूमि-सुधार को चौथी योजना के अन्तर्गत महत्त्व देना आवश्यक है। चौथी योजना के मसविदे में यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है कि भूमि-सुधार-कार्यक्रमों के पीछे जो उद्देश्य थे, वे पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सके।

चौथी योजना के कृषि-कार्यक्रम

पैकेज प्रोग्राम के विषय में विचार करने के बाद अब चौथी योजना में कृषि-विकास के जो दूसरे कार्यक्रम हैं, उन पर भी विचार करना आवश्यक है। चौथी योजना के अन्तर्गत कृषि-विकास के कार्यक्रमों को निर्धारित करते समय आयोजकों के सामने गत तीन योजनाओं की कृषि-विकास-नीति की कमजोरियाँ

अवश्य सामने रही हैं। तीसरी योजना के बीच जो गलतियां सामने आईं, उन्हें स्वीकार करते हुए कई ऐसे कदम उठाने की व्यवस्था की गई है, जिनसे कृषि-उत्पादकता बढ़ाने में मदद मिल सकती है। इनके विषय में विस्तार से चर्चा करना यहां सम्भव नहीं है लेकिन संक्षेप में जो खास-खास बातें हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. कृषि-विकास के लिए उन उद्योगों को बढ़ावा दिया जाएगा, जो कृषि के साधन जैसे उर्वरक, कीटनाशक, बिजली या पावर आदि कृषि क्षेत्र में प्रदान करते हैं।

२. सिंचाई की सुविधाओं को बढ़ाने के लिए बड़ी योजनाओं की अपेक्षा छोटी योजनाओं पर अधिक जोर दिया जाएगा, ताकि इन पर लागत कम हो और इन्हें शीघ्र पूरा करके सिंचित क्षेत्रों को बढ़ाया जाए। इसके लिए सिंचाई के पहले से जो साधन हैं, उनकी मरम्मत आदि को भी हाथ में लिया जाएगा। साथ ही सिंचाई-क्षमता, जो विभिन्न कार्यक्रमों के जरिए बढ़ाई जाएगी, उसके पूर्ण उपयोग पर जोर दिया जाएगा क्योंकि पहले सिंचाई-परियोजनाओं द्वारा अनुमानित सिंचित क्षेत्र (कमाण्ड एरिया) और वास्तविक सिंचित क्षेत्र में काफी अन्तर रह गया है। सिंचाई-परियोजनाओं के साथ ही भूमि के लेवल को ठीक करने और गूलों के निर्माण-कार्यों को पूरा करके इस क्षेत्र की दिक्कतों को हल किया जाएगा।

३. अधिक उपज देने वाले बीजों को प्रचलित करके उनके बोने पर जोर दिया जाएगा। इस समय अनुमान है कि १२ करोड़ एकड़ भूमि में उन्नत बीज बोए जाते हैं। चौथी योजना के अन्त तक २७ करोड़ ४० लाख एकड़ भूमि में अधिक उपज वाले बीजों का प्रयोग होने लगेगा। बीज की पूर्ति बढ़ाने के लिए सभी राज्यों से पाइलाट प्रोजेक्ट के रूप में बीज पैदा करने वाले गांव बनाए जाने का प्रस्ताव है। छोटे किसानों से जो बीज वसूला जाएगा, उसके मुकाबले में उन्हें उपभोग के लिए दूसरी तरह के अनाज दे दिए जाएंगे। सभी राज्यों में सीड कारपोरेशन बनाने का प्रस्ताव है और बड़े-बड़े बीज फार्म चलाने का प्रस्ताव है। बीज को परखने, जांचने, भूमि की अनुकूलता के अनुसार उसका वर्गीकरण करने तथा इस सम्बन्ध में अनुसंधान-कार्यों को मजबूत आधार पर संगठित करने की भी योजना है। अनुमान है कि बहुत जल्दी सरकार उर्वरक और सिंचाई

से ज्यादा पैदावार देने वाले बीजों की मात्रा बढ़ा देगी ।

४. उर्वरकों के उपयोग को काफी मात्रा में बढ़ाया जाएगा। अनुमान है कि योजना काल में २० लाख टन तक उर्वरकों की पूर्ति बढ़ जाएगी जो इस समय ५ लाख टन प्रति वर्ष है ।

५. पौध-संरक्षण तथा भूमि-संरक्षण-कार्यक्रमों, कृषि-यंत्रों, बेकार भूमि को उपजाऊ बनाने, कीट-नाशकों, आदि पर कार्य करने की योजना है ।

६. बागवानी, पशुपालन, मत्स्य-पालन, और व्यापारिक फसलों के कार्यक्रमों को बड़े पैमाने पर चालू किया जा रहा है ।

७. कृषि-शिक्षा, ट्रेनिंग, अनुसन्धान के कार्यक्रमों को आगे बढ़ाया जाएगा और उनमें पिछले अनुभवों के आधार पर परिवर्तन किए जाएंगे ।

८. अच्छे भण्डारों, कृषि-उपज की बेहतर वसूली, विपणन-व्यवस्था में सुधार, खाद्यान्न-भण्डार के बनाने, कीमतों के उचित निर्धारण की दिशा में भी कई महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम शुरू किए जाएंगे ।

विस्तार से चौथी योजना के सभी कार्यक्रमों की चर्चा यहां सम्भव नहीं। ऊपर सिर्फ उन क्षेत्रों की तरफ संकेत कर दिया गया है, जिनमें सरकार कार्यक्रमों को संगठित करने जा रही है। लेकिन कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिन पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में हम सबसे पहले सहकारी खेती के कार्यक्रम को लेंगे।

सहकारी खेती

चौथी पंचवर्षीय योजना के मसविदे में सहकारी खेती को बहुत महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम बताया गया है और सरकार इसे कृषि-नीति का आवश्यक अंग मानती है। भारत की अर्थ-व्यवस्था छोटे पैमाने पर खेती करने वाले खेतिहरों की समस्या है, जिनके पास जमीन कम है, बिखरे हुए खेत हैं और साधनों की कमी है। ऐसे किसानों को खेती की उत्पादकता बढ़ाने के लिए सहकारी खेती के जरिए ही संगठित किया जा सकता है। भारतीय कृषि की मूल समस्या बड़े भू-क्षेत्र को प्राप्त करके अलाभकर खेती को समाप्त करने की है, जो सहकारी खेती द्वारा ही संभव है।

इस दिशा में अब तक जो कुछ किया गया है वह पर्याप्त नहीं है। सहकारी खेती का कार्यक्रम अभी जड़ नहीं जमा पाया है। यही कारण है कि तीसरी पंच-

वर्षीय योजना के दौरान ३२०० कृषि सहकारी समितियों के संगठन के लक्ष्य में से २००० समितियां ही बन सकीं। उनमें कितनी क्रियाशील हैं, यह बात अलग है। चौथी योजना में ६० हजार समितियों के संगठन का लक्ष्य रखा गया है।

चौथी योजना के मसविदे में यह बात स्वीकार की गई है कि कृषि सहकारी समितियों का कार्य सामान्य रूप से देखा जाए तो संतोषप्रद नहीं रहा है। संतोष-प्रद कार्य न करने के जो मुख्य कारण दिए गए हैं, वे हैं आन्दोलन का सरकारी छत्र-छाया में चलते रहना, स्थानीय नेतृत्व की कमी, बड़े काश्तकारों का इससे अलग रहना, संगठन-शक्ति का अभाव, निहित स्वार्थ वालों की इसे असफल बनाने की साजिशें, वैज्ञानिक, टेकनीकल और वित्तीय सहायता की कमी आदि। सरकार यह महसूस करती है कि सहकारी खेती के विकास की बड़ी संभावनाएँ हैं, लेकिन इसके लिए चौथी योजना के दौरान नए उत्साह से कार्य करना होगा। इस क्षेत्र में कृषि सहकारिता का इतना महत्व है कि आगे इसे कृषि-विकास-कार्यक्रमों के अंग के रूप में चलाया जाएगा, ताकि ये कृषि विकास की सही अर्थ में एजेंसी बन सकें।

कृषि के कार्यक्रमों में सहकारी आन्दोलन पूर्ण योगदान दे सके इसके लिए चौथी योजना के अन्तर्गत सहकारी ऋण, सहकारी विपणन, सहकारी प्रोसेसिंग, सहकारी ऋण को सहकारी क्रय विक्रय से जोड़ने, सहकारी भण्डारों के निर्माण आदि क्षेत्र में भी कई कार्यक्रम शुरू करने पर जोर दिया गया है।

वितरण-व्यवस्था तथा मूल्य

कृषि-विकास-कार्यक्रमों का उद्देश्य उत्पादकता को बढ़ाना होना चाहिए। लेकिन उत्पादकता बढ़ाने के लिए सिर्फ यही पर्याप्त नहीं है कि पैदावार बढ़ाई जाए; जो कुछ पैदा होता है उसके वितरण की व्यवस्था भी ऐसी होनी चाहिए कि वह मुनासिब कीमत पर उपभोक्ताओं को मिले और उत्पादकों को उससे ऐसी आय हो कि उन्हें अधिक पैदा करने का प्रोत्साहन मिले और सभी राज्यों में उसकी कीमत एक-सी रहे। इस दृष्टि से यदि अब तक की स्थिति को देखें तो निराशा ही होती है। कृषकों को प्रोत्साहन देने की समस्या पर पहले ही अलग से विचार किया गया है।

जहां तक समुचित वितरण का प्रश्न है, यह स्वीकार करना होगा कि किसी भाग में गल्ला पर्याप्त मात्रा में और कम कीमत पर उपलब्ध है, तो कहीं ज्यादा कीमत और अभाव की स्थिति है। गल्ले के वितरण की क्षेत्रीय व्यवस्था तब तक ठीक ढंग से चलती रही जब तक केन्द्र में गल्ले का पूरा भण्डार था और जहां कहीं कमी होती थी वहाँ उससे पूर्ति बढ़ाकर संतुलन कर दिया जाता था, लेकिन अब

स्थिति में संतुलन की भारी कभी है। इस स्थिति पर काबू पाने के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता पर जोर दिया जाता रहा, लेकिन अनुभव यह बतलाता है कि नियंत्रण से सामान्यतः बहुत सुधार नहीं हुआ और जिस वस्तु को नियंत्रण में लाया गया, उसकी कीमत बढ़ती गई और उसकी कमी बराबर बनी रही, भले ही यह कमी कृत्रिम तौर पर भी उत्पन्न हुई। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि नियंत्रण तोड़ दिए जाएं। अभाव की स्थिति में नियंत्रण आवश्यक है। प्रश्न उसकी व्यवस्था में सुधार का है। सरकार इस स्थिति से पूर्णतः अवगत है। अतः खाद्यान्न-वितरण में कई जगहों पर राशनिंग की व्यवस्था है और सरकार बराबर कोशिश करती है कि चंद महत्त्वपूर्ण स्तरों पर नियंत्रण करके पूर्ति को बराबर प्रभावित करे। वस्तुतः कीमतों में बराबर वृद्धि होती रही है और इस पर नियन्त्रण पाना आवश्यक है। कीमतें स्थिर भी नहीं रहतीं और देश के भिन्न-भिन्न भागों में एक-सी नहीं रहती। साथ ही, यह देखा गया है कि बड़ी मण्डियों में पहले के मुकाबले अनाज कम आता है, जिससे यह पता चलता है कि पैदा करने वाले अपने अनाज को अपने पास तबतक रखना चाहते हैं जब तक उसके लिए उन्हें अधिक-से-अधिक कीमत न मिले और जब वह बेचते हैं तो आवश्यक नहीं कि मण्डियों के जरिये ही बेचें। बाजार की यह स्थिति वितरण को नियंत्रण में रखने के लिए मजबूर करती है। अतः सरकार इस समय आंशिक नियंत्रण-नीति से काम कर रही है और अनाज वसूली तथा आयात द्वारा पूर्ति की समस्या को संतुलित करने की कोशिश करती है। वसूली में गेहूँ और चावल पर विशेष जोर दिया जाता है।

व्यापारियों में भी खाद्यान्न को संचित करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और उसे वे तब बेचते हैं जब उससे अधिक लाभ कमाया जा सके। बैंक से उन्हें ऋण मिल जाता है और वे काफी मात्रा में गल्ला खरीदकर रख लेते हैं। सरकार ने खाद्य निगम की स्थापना करके सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न किया है। खाद्य निगम का उद्देश्य है खाद्यान्न का पर्याप्त भण्डार बनाना और कीमतों को स्थायित्व प्रदान करना। यदि सरकार के पास पूरा भण्डार रहेगा, तो वह कीमतों पर नियंत्रण रख सकेगी। जब अनाज की कमी रहेगी उस समय वह अपने स्टाक से पूर्ति बढ़ाकर कीमतों को बढ़ने नहीं देगी और जब अनाज की पूर्ति ज्यादा रहेगी तो वह स्वयं खरीदकर कीमतों को गिरने से रोकेगी। अतः सरकार द्वारा वितरण-व्यवस्था में हस्तक्षेप का सिद्धान्त बिलकुल सही कदम है और इसे ठीक से अमल में लाया जाना जरूरी है। यदि सरकार उत्पादन बढ़ाने के लिए कार्यक्रम बनती है, तो वितरण पर उसका नियंत्रण भी होना ही चाहिए।

कार्यान्वयन में दृढ़ता तथा कुशलता

सरकार की कृषि-नीति का जो विवरण यहां दिया गया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि कृषि-कार्यक्रमों को निर्धारित करने में वह पहले के मुकाबले अब अधिक कारगर योजनाएं बना रही है और खेती के तरीकों, संचय, वितरण आदि सभी क्षेत्रों में नए मोड़ देने का प्रयत्न कर रही है, लेकिन इसमें सफलता तभी मिलेगी जब इन कार्यक्रमों को लागू करने में दृढ़ता और कुशलता दोनों ही प्राप्त की जाएं। इन कार्यक्रमों के निर्धारण मात्र से उत्पादन बढ़ने की आशा का कोई कारण नहीं है जब तक उस पर ठीक ढंग से अमल न हो। चौथी योजना के अन्तर्गत जो कृषि-कार्यक्रम बनाए गए हैं उनसे यह आशा अवश्य बँधती है कि कृषि-पैदावार बढ़ाने के लिए सरकार ने सही दिशा में अपनी नीति को मोड़ा है, लेकिन यह बात खलती है कि प्रबंध एवं प्रशासन-सम्बन्धी कुशलता बढ़ाने के लिए जो कारगर कदम उठाए जाने चाहिए उनके बारे में अब भी स्पष्टता की कमी है। इसके विषय में अधिक विस्तारपूर्वक कार्यक्रम निर्धारित करने की आवश्यकता है। साथ ही, चौथी योजना के कार्यक्रमों में साधनों की पूर्ति और पैदावार बढ़ाने के कार्यक्रमों पर जितना जोर दिया गया है, वह तो ठीक है; लेकिन खेती के क्षेत्र में होने वाली बर्बादी को रोकने की दिशा में अब तक गहराई और विस्तार से अध्ययन करने और कार्यक्रमों को लागू करने की ओर उतना ध्यान आयोजकों का नहीं गया है जितना आवश्यक है। बल्कि यह कहें कि इस बात को ध्यान में रखकर कार्यक्रमों को निश्चित करने की शायद अभी आवश्यकता ही नहीं महसूस हुई है, क्योंकि फिलहाल ध्यान उत्पादन बढ़ाने पर अधिक है, उत्पादकता बढ़ाने पर कम। आशा है, आगे इस पहलू को अवश्य ध्यान में रखा जाएगा।

: १३ :

कृषि-उत्पादकता तथा राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद्

सम्भवत: पाठकों को मालूम हो कि भारत में उत्पादकता-आन्दोलन की शुरुआत फरवरी १९५८ में राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् की स्थापना के बाद हुई। इसके पहले भी इस दिशा में छिट-पुट प्रयत्न शुरू हुए थे, लेकिन योजनाबद्ध रूप में तथा एक साथ कई दिशाओं में उत्पादकता बढ़ाने की कोशिशें इस राष्ट्रीय संगठन के अस्तित्व में आने के बाद ही शुरू हुईं।

औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादकता के विचार तथा तकनीकों की उपयोगिता को सिद्ध करने के बाद राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद ने १९६४ में कृषि के क्षेत्र में भी अपने कार्यक्रमों के विस्तार का निर्णय किया। इस निर्णय के पीछे दो कारण थे— एक तो परिषद् लम्बे समय से अनुभव कर रही थी कि कृषि को उसके गिरे हुए स्तर से उठाने के लिए इस क्षेत्र में उत्पादकता-विचार का प्रवेश जरूरी है, दूसरे लोकसभा में १९६३ में दिये गए इस सुझाव ने भी कि राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद को कृषि के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए, परिषद को इस निर्णय के लिए बल प्रदान किया।

औद्योगिक क्षेत्र में काम करने के बाद परिषद् को यह अनुभव हुआ कि भारत में औद्योगिक विकास तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कृषि के क्षेत्र में भी तेजी से प्रगति न हो। इस अनुभव तथा अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए ही परिषद ने कृषि के क्षेत्र में प्रवेश करने का निर्णय लिया। काफी लोगों की यह शिकायत थी कि राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद ने कृषि के क्षेत्र में पहले ही प्रवेश क्यों नहीं किया, लेकिन ऐसा न करने का एक मुख्य कारण था। परिषद यह चाहती थी कि उत्पादकता की तकनीकों की उपयोगिता पहले औद्योगिक क्षेत्रों में सिद्ध करके ही दूसरे क्षत्रों में प्रवेश किया जाए। साथ ही, कृषि-विकास के कार्यक्रमों को तीन योजनाओं के दौरान चलाने के बाद जब यह महसूस हुआ कि सिर्फ साधनों की व्यवस्था कर देने से समस्या नहीं हल हो सकती, तब

परिषद ने यह निश्चय किया कि साधनों के बेहतर इस्तेमाल के प्रति भी लोगों को सजग करने की जरूरत है।

राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद इस क्षेत्र में किस तरह योगदान देना चाहती है, इस पर विचार करने के पहले यह बताना भी आवश्यक है कि परिषद इस सिलसिले में पृष्ठभूमि में रहकर ही काम करना चाहती है। तकनीकी ज्ञान-प्रसार, प्रबन्ध-सम्बन्धी परामर्श, प्रशिक्षण, और सर्वेक्षण के कार्यक्रमों का सीमित क्षेत्र में संचालन जैसे कुछ कार्यक्रमों के अतिरिक्त बाकी सभी काम कृषि-विकास के लिए संगठित विभागों और संगठनों को ही करने हैं। इन कार्यों को भी परिषद दूसरे संगठनों के साथ-साथ मिलकर करना चाहती है और जो संगठन इन कार्यों को कर रहे हैं, वे भी कार्य करते रहें। हाँ, परिषद का यह आग्रह अवश्य होगा कि ये संस्थाएं अपने कार्यक्रमों को उत्पादकता-उन्मुख बनाएं और सिर्फ इसी उद्देश्य से परिषद इस क्षेत्र में सक्रिय होना भी चाहती है।

कृषि-उत्पादकता के कार्यक्रमों को प्रारम्भ करने के पहले परिषद ने निम्न प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया :

१. क्या उत्पादकता की तकनीकें कृषि के क्षेत्र में भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आवश्यकतानुसार कमोबेश परिवर्तन के बाद लागू की जा सकती हैं ?
२. क्या हमारे देश की समस्या कृषि-विकास के लिए अधिक साधनों को जुटाने की ही नहीं, बल्कि उसके भरपूर इस्तेमाल की भी है ?
३. क्या कृषि-विकास के लिए अब तक जो संगठन सामने आए हैं, उनके सहयोग से उत्पादकता बढ़ाने के कार्यक्रम को लागू किया जा सकता है ?

काफी विचार-विमर्श के बाद जब इन तीनों ही प्रश्नों का उत्तर "हां" में प्राप्त हुआ, तभी परिषद ने कृषि के क्षेत्र में प्रवेश किया। आज राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के सामने मुख्य समस्या यही है कि कैसे सरकारी विभागों के अतिरिक्त कृषि-शिक्षा-संस्थाओं, शोध-केन्द्रों (रिसर्च सेन्टर), कृषि के क्षेत्र में काम करने वाली स्वेच्छिक संस्थाओं, कृषि से कच्चा माल लेने वाले उद्योगों, पंचायतों, सहकारी संस्थाओं, विशेषज्ञों आदि सभी लोगों को इस क्षेत्र में सक्रिय किया जाए। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी समस्या तो उन करोड़ों किसानों को उत्पादकता बढ़ाने के लिए तैयार करने की है, जिन्हें दरअसल सभी कार्यक्रमों को संचालित करना है। इस दृष्टि से देखें तो यह एक छोटा काम नहीं है। दरअसल यह हमारे आर्थिक जीवन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।

किसी भी नए विचार को जनता तक पहुंचाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके विषय में लोगों को अधिक-से-अधिक जानकारी दी जाए और उसके प्रति लोगों को आकृष्ट किया जाए। अंग्रेजी में जिस चीज को 'टू सेल द आइडिया' कहते हैं, यानी विचारों को दूसरों के गले उतारना, वही बात कृषि-उत्पादकता के लिए आवश्यक समझी गई। गोष्ठियों, रेडियो कार्यक्रमों, सम्मेलनों, समाचार-पत्रों तथा सम्पर्क के सभी माध्यमों से इस काम को गत दो वर्षों से प्रारम्भ किया गया है और यह प्रसन्नता की बात है कि स्थानीय उत्पादकता परिषदों, सरकारी विभागों और शिक्षा संस्थाओं के सहयोग से इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली है। विचारों के प्रसार के अतिरिक्त कृषि-उत्पादकता के क्षेत्र में प्रशिक्षण (कार्यक्रमों का भी विशेष महत्त्व है। यह प्रशिक्षण विशेषज्ञों तथा टेकनीकल स्टाफ की सहायता से ही दिया जा सकता है। अतः राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद ने अपने इण्डस्ट्रियल इंजीनियरिंग प्रोग्राम के अन्तर्गत कृषि इंजीनियरों की ट्रेनिंग भी शुरू कर दी है, ताकि उत्पादकता के तकनीकों को कृषि के क्षेत्र में लागू करने तथा लोगों को प्रशिक्षित करने में इनकी सेवाओं का उपयोग किया जा सके, ये प्रशिक्षण-कार्यक्रम कृषि-प्रबन्ध, कार्य-अध्ययन, विपणन आदि विषयों पर भी आयोजित किए जा सकते हैं।

उत्पादकता सर्वेक्षण

प्रशिक्षण के अतिरिक्त परिषद इस बात के लिए बराबर प्रयत्नशील है कि कृषि के क्षेत्र में अधिक-से-अधिक उत्पादकता-सर्वेक्षण (प्रोडक्टिविटी सर्वे) किए जायं, ताकि उन क्षेत्रों का पता चले जहां सबसे पहले कार्यक्रमों को चलाना आवश्यक है। ये सर्वेक्षण उत्पादन के वितरण तथा खेती के नए तरीकों के अलावा पैदावार को बाजार में बेचने, उसे सुरक्षित ढंग से रखने, इसमें होने वाली बर्बादी कम करने, इसके वितरण आदि हर पहलू पर किए जायंगे। सर्वेक्षण के कार्य उन औद्योगिक इकाइयों में किए भी गये हैं, जो कृषि के क्षेत्र से कच्चा माल प्राप्त करती हैं। इन सर्वेक्षणों से यह पता चला है कि किस प्रकार कम-से-कम कच्चा माल इस्तेमाल करके अधिक-से-अधिक उत्पादन किया जा सकता है।

१९६५ में राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के अन्तर्गत कृषि-उत्पादकता विभाग की स्थापना के बाद कई महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम प्रारम्भ किये गए हैं। उत्तर प्रदेश की एक चीनी-मिल में निवारक रख-रखाव कार्यक्रम (प्रिवेन्टिव मेंटीनेंस प्रोग्राम) के अन्तर्गत किये गए एक सर्वे से पता चला कि इस फैक्टरी में कुल काम के घण्टों में से १२ प्रतिशत तक मशीनों की टूट-फूट के कारण काम बन्द

रहता था। इससे न सिर्फ उत्पादन कम होता था, बल्कि जो गन्ना फैक्टरी के अन्दर आ गया रहता उसमें चीनी का तत्त्व भी कम हो जाता था। साथ ही, किसानों को भी असुविधाएं होती थीं। इस फैक्टरी के सर्वेक्षण के बाद रख-रखाव-कार्यक्रम के अन्तर्गत परिषद के विशेषज्ञों ने ऐसे सुझाव दिए, जिनसे फैक्टरी के बन्द रहने का समय १२ प्रतिशत से घटकर ५ प्रतिशत हो गया। फैक्टरी को जो सुझाव दिये गए उसके अनुसार आशा है कि उसे लगभग १ लाख २० हजार रुपये की बचत होगी। इसी तरह एक दूसरी चीनी मिल में माल-सूची-नियंत्रण (इन-वेन्टरी कन्ट्रोल) को लागू करने के ऐसे सुझाव दिये गए, जिनसे ६ लाख की फंसी हुई पूंजी को घटाकर ४ लाख तक किया जा सकता है, जिससे काफी बचत होगी।

एक दूसरा महत्वपूर्ण सर्वेक्षण दिल्ली के आसपास फलों और सब्जियों के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में किया गया जिससे यह पता चला कि उत्पादकों से व्यापारी जिस भाव पर इन चीजों को खरीदते हैं, उससे काफी ऊँचे भाव पर वे उपभोक्ताओं को बेचते हैं। इस सर्वेक्षण के बाद ऐसे कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये गए, जिन्हें लागू करने पर उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों को लाभ हो सकेगा और बीच के व्यापारियों के शोषण से इन्हें बचाया जा सकता है।

लेकिन परिषद के सभी कार्यक्रमों में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम वह सर्वेक्षण है, जिसके अन्तर्गत किसानों को कृषि-उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रेरित करने के विषय में अध्ययन किया गया। इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत कई जिलों में जाकर किसानों में प्रश्नावलियां वितरित करके तथा उनसे साक्षात्कार करके यह जानने का प्रयत्न किया गया कि वे कौन-से कारण हैं जिनसे उत्पादकता बढ़ाने में किसानों को कठिनाई हो रही है और कैसे इसके लिए उन्हें प्रेरित किया जा सकता है।

कुछ चावल मिलों में भी सर्वेक्षण-कार्य किये गए हैं, जिसका उद्देश्य यह पता लगाना है कि धान की सफाई और कुटाई में किस तरह सुधार किया जाए कि चावल का अंश अधिक-से-अधिक निकले।

अपने सर्वेक्षण-कार्यक्रमों के अतिरिक्त राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद ने एशिया उत्पादकता परिषद के अनुरोध पर भारत में कृषि-क्षेत्र में मशीनों के प्रयोग-सम्बन्धी एक सर्वे भी किया है, जिसमें विस्तार से यह बताया गया है कि इस समय मशीनों का इस्तेमाल किस रूप में हो रहा है और आगे इसके प्रयोग को बढ़ाने का कितना व्यापक क्षेत्र है।

राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के प्रशिक्षण, गोष्ठियों तथा सर्वेक्षण-कार्यों का काफी अच्छा प्रभाव पड़ा है। यही कारण था कि भारतीय खाद्य निगम ने भी

अपने गोदामों के सर्वेक्षण के लिए परिषद के विशेषज्ञों को निमंत्रित किया। खाद्य-निगम को इस बात का पूरा विश्वास है कि राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद की सिफारिशों पर अमल करने से निगम के विभिन्न विभागों में कुशलता बढ़ेगी। परिषद ने खाद्य निगम के कुछ कार्यालयों में कर्मचारियों के कार्य-भार (वर्क लोड) के बारे में भी सर्वेक्षण किया और रिपोर्ट दी है।

राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद की गतिविधियों के इस संक्षिप्त विवरण से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि परिषद किस तरह कार्य करना चाहती है। उसका मुख्य उद्देश्य किसानों को हर तरह से लाभ पहुंचाना है। लेकिन, जैसे कि पहले कहा गया है कि कृषि-उत्पादकता बढ़ाने का कठिन और गुरुतर दायित्व सिर्फ राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद का ही नहीं है। यह काम कृषि के क्षेत्र में काम कर रहे सभी लोगों का है। इस पुस्तक में हर जगह यह स्पष्ट किया गया है कि कृषि की समस्या उत्पादकता बढ़ाकर ही हल हो सकती है। इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि भविष्य में सभी कार्यक्रम इस तरह निश्चित व लागू किए जायें कि उनसे उत्पादकता बढ़ाने में पूरी मदद मिले।

● ● ●